

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180111

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H. 84 / MG 754

Accession No.

G. H. 156

Author

मिश्र भगिरथ - 1

Title

साहित्य, साधना और समाज।

This book should be returned on or before the date
last marked below.

साहित्य, साधना और समाज

डॉ० भगीरथ मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०,
लखनऊ विश्वविद्यालय
लेखक

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा :: लखनऊ

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानवरीबा, लखनऊ

साढ़े चार रुपये

मुद्रक
नवज्योति प्रेस
पानवरीबा, लखनऊ

साहित्य, साधना और समाज

[प्रस्तावना]

समाज के प्रति जागरूक साधना का परिणाम प्रायः सत्साहित्य होता है। परन्तु इससे भी अधिक तथ्य इस बात में है कि सत्साहित्य के स्रजन के लिए समाज के प्रति जागरूकता और साधना, दोनों ही की आवश्यकता है। जो साहित्य समाज की नितान्त अवहेलना या उपेक्षा करके लिखा जाता है, उसमें व्यापकता और स्थायित्व के गुण नहीं आ सकते। व्यक्तिगत एकांतिक साधना उसे गंभीर आत्मानुभूति से भर सकती है; परन्तु गंभीर आत्मानुभूति की अवस्था तक आते-आते, व्यक्ति का संकीर्ण घेरा टूट जाता है और वह अनचाहे ही कभी-कभी समष्टि-साधना का प्रतिनिधित्व करने लगता है। यह गंभीर आत्मानुभूति की दशा जितनी ही अधिक चलती है, उतना ही व्यक्ति, व्यापक समष्टि में परिणत होता जाता है और संकीर्ण व्यक्ति तिरोहित होता जाता है। प्राचीन युगों के ऋषि-मुनियों का साधनामय जीवन और उपनिषदों, शास्त्रों, पुराणों आदि साहित्य के रूप में उसकी परिणति तथा तुलसी, गांधी, अरविन्द, वर्नडॅशा आदि के साधनामय कार्य इसके पुष्ट प्रमाण हैं।

सामाजिक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार की सफलता के लिए साधना चाहिए। सामाजिक कार्यों की साधना, त्याग, परोपकार आदि गुणों की अपेक्षा रखती है और साहित्यिक साधना, निस्पृह संवेदनशीलता और भावात्मक तन्मयता की। साधना के अभाव में किये गये दोनों ही कार्य अधूरे और अचिरस्थायी रहते हैं। अतः जहाँ पर साहित्य, साधना और समाज तीनों ही की परिधियाँ मिल जाती हैं अथवा जब इन तीनों का केन्द्रबिन्दु एक हो जाता है, वहाँ युग-युग तक अमर रहनेवाली विभूतियों और कृतियों का प्रादुर्भाव होता है।

सामाजिक दृष्टि और साधना का संबंध वैज्ञानिक से भी रहता है, किन्तु

उसके परिणामों का उपयोग समाज सीधे रूप में न करके, टेढ़े स्थूल और बाह्य रूप में करता है। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक ने अपनी साधना से अणुशक्ति की खोज की, तो समाज इससे प्राप्त प्रयोगों का उपयोग उस शक्ति से चलनेवाली कलों के उपयोग द्वारा करेगा और इस प्रकार भौतिक एवं शारीरिक जीवन के सुख की वृद्धि होगी, परन्तु साहित्यकार की इस प्रकार की साधना का परिणाम, समाज स्वयं अपने आप ही भोगता है और उससे भौतिक सुख के स्थान पर मानसिक तृप्ति और आध्यात्मिक आनंद प्राप्त होता है, जो हमारे जीवन की पूर्णता के लिए अधिक आवश्यक है। साहित्य-द्वारा इस प्रकार के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के बिना, मनुष्य सामुहिक रूप में भौतिक सुखों का उपयोग भी नहीं कर सकता। अतः साहित्यिक साधना का महत्व समाज के लिए अधिक और प्रतिदिन उपादेय है। विज्ञान जीवन की सुख-सामग्री देता है और साहित्य हमारे मंगलमय शुभ संस्कार बनाता है जिससे हम एक साथ रहकर, उन सुखों का सामाजिक उपभोग कर सकते हैं। हमारे समाज में आज भी इसी प्रकार के उपयोग के लिए नियम, कानून बनाये जाते हैं, फिर भी अपराध होते हैं उसका कारण साहित्य साधना और साहित्य-सेवन की कमी है। वे संस्कार, इस कमी के कारण नहीं बन पाते जिनके होने पर हम एक दूसरे का ध्यान रखकर अपने स्वार्थों की सिद्धि करते हैं; अतः साहित्यिक साधना के परिणामों का हमारे सामाजिक जीवन की सफलता में महत्वपूर्ण योग रहता है।

प्रस्तुत संग्रह में आये निबन्धों में इस दृष्टिकोण की ही प्रमुखता है। इसमें शुद्ध साहित्यिक लेख भी हैं। किन्तु वहाँ भी स्पष्ट अथवा व्यंग्य रूप से साधना अथवा सामाजिकता के संकेत हैं उन्हें ही स्पष्ट करने के लिए ऊपर का वक्तव्य है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज के युग में साधना के साथ-साथ सामाजिक दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है। हमें वही साहित्य चाहिए जो साधना-प्रसूत और सामाजिक जागरूकता से संपन्न हो। वही हमारे युग का सत्साहित्य हो सकेगा। अतएव साहित्य, साधना और समाज का घनिष्ठ संबंध हमारे लिए वांछनीय है।

लखनऊ
वसंत पंचमी
२००७ वि०

भगीरथ मिश्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
सन्त कवियों के सामाजिक आदर्श	१
गोस्वामी तुलसीदास का समाजवाद	२६
हिन्दी काव्य में रहस्य-भावना	७३
हिन्दी काव्य में प्रगीतात्मकता और उसके विविध रूप	८३
हिन्दी में गीतिकाव्य का विकास	१२३
कवि-कोटियाँ	१४०
काव्य में वन और फूल	१५३
कवि का सत्य	१६०
साहित्य में आदर्श और यथार्थ	१६५
अवधी की सामर्थ्य और समृद्धि	१७०
लोक-साहित्य में दाम्पत्य जीवन	१७८
साहित्यिक अभिरुचि	१८६
भ्राज का कवि-और कविता का भविष्य	१९४
सामाजिक साम्य और आध्यात्मिक चेतना	१९६

हमारे कुछ साहित्यिक प्रकाशन

—:०:—

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	...	...	...	...	७)
मकरन्द	...	...	...	...	३।।)
सूरदास	...	...	...	...	१)
युग प्रवर्तक रामानन्द	...	...	...	...	४)
हमारे पड़ोसी राष्ट्र	...	...	...	...	२।।)
भूषण विमर्श	...	...	...	...	४)
भोजन क्या क्यों कैसे	...	...	...	...	४)
तीन सौ पेंसठ तिथियाँ	...	...	...	...	१०)
आधुनिक हिन्दी में आलोचना साहित्य	...	...	...	...	१)
हिन्दी शब्द कोष	...	...	...	...	४)
रामायण और महाभारत कालीन जनतंत्रवाद	...	...	...	...	८।
वह जो मैंने देखा (दो भाग)	...	...	...	...	५।।।)
विटामिन हीनता जनित रोग	...	...	...	...	२।)
हास्य के सिद्धान्त	...	...	...	...	३)

सन्त कवियों के सामाजिक आदर्श

अभी तक संत कवियों के सामाजिक पक्ष पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। प्रायः जब हम संत कवियों की वाणी का अवलोकन करते हैं, तो हमारी धारणा यही रहती है कि इसमें भक्ति या अध्यात्म-चर्चा है, हमारी प्रवृत्ति यही रहती है कि इसके भीतर लोक-जीवन-सम्बन्धी धारणाएँ और आदर्श ढूँढ़ना व्यर्थ है। पर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें, तो हमें उनकी आध्यात्मिक साधना और ईश्वर-भक्ति से सम्बन्धित उद्गारों में सामाजिक आदर्शों के संकेत मिलते हैं। क्यों ? इसका कारण है। अपने आस-पास के लोक-जीवन को अत्यन्त दूषित और असत्य पथ पर जाते देखकर इन महापुरुषों के मन में उससे विरक्ति का भाव जाग्रत हुआ और उसी भाव को लेकर इन्होंने उपदेश दिये। इसके साथ ही साथ लौकिक जीवन की क्षणभंगुरता, पारस्परिक विषमता, वैमनस्य, विरोध आदि के कारण उन्होंने लोक-जीवन-सम्बन्धी बातों को छोड़ कर उस तत्व का सहारा ढूँढ़ा जो चिरन्तन, अनन्त एवं सर्वव्यापी है। किन्तु, इस तत्व की प्राप्ति आदि के लिए जीवन का जो आदर्श रखा गया है, उसका हमारे शाश्वत, सामाजिक जीवन में भी बहुत बड़ा महत्व है।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं मानसिक स्थिति के विचार से भी यह सत्य है कि वह उठता-उठता आकाश तक पहुँच सकता है और गिरता-गिरता पाताल भी जा सकता है। उसके भीतर उत्थान की असीम शक्ति है और पतन की भी सीमा नहीं है। गनुष्य के मन की शक्ति अपार है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने मन के सम्बन्ध में यही प्रार्थना की है:—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदुसुप्तस्य तत्रैव एति ।

दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

अर्थात् असीम शक्तिवाला हमारा मन शिव संकल्प या कल्याणकारी संकल्प वाला हो। जब तक हमारा मन सत्कर्तव्यों की ओर प्रवृत्त नहीं होता, तब तक वह भवतः पतनाभिमुख ही रहेगा। अतः इन भक्त कवियों तथा ऋषि-महात्माओं ने अपने मन का निरोध कर अपने लिए जो व्यक्तिगत आदर्श

बनाया है, वह सांकेतिक रूप से सामाजिक महत्व रखता है। साथ ही साथ उनकी जो उक्तियाँ समाज को लक्ष्य करके कही गई हैं उनमें तो समाज को स्पष्ट उपदेश हैं ही। भारतीय इतिहास में सन्तों का भक्ति-सम्बन्धी आन्दोलन आत्मपरिष्कार और समाजसुधार का आन्दोलन है। भक्ति या अध्यात्म के मुख्य तत्व को ग्रहण कर यदि मनुष्यमात्र को पावन करनेवाले, पारस्परिक विद्वेष-घृणा, ईर्ष्या-वैषम्य को घुला देनेवाले एक मानवीय प्रेम के प्रवाह में हम मग्न हो जायें तो हमारा समाज आदर्श हो सकता है।

आजकल हम मानव प्रेम को जाग्रत करने के हेतु, मानव जाति की सुख-शांति की रक्षा के निमित्त विभिन्न भौतिकवादों की कल्पना कर रहे हैं। जिस साम्य-स्थापना की कल्पना हम अपने साम्य और समाजवादों में आज कर रहे हैं, उसी मानव-मात्र के साम्य-स्थापन-सम्बन्धी प्रयत्न के फल-स्वरूप हमें मध्ययुग में भक्ति और अध्यात्मवाद का यह प्रवाह दिखाई दे रहा है। यद्यपि यह बात सत्य है कि भक्ति के समस्त सम्प्रदायों और रूपों में हमें स्पष्टरूपेण इस सामाजिक साम्य की घोषणा नहीं मिलती, पर जो भी आदर्श है उसके मूल में यह साम्य है अवश्य। हिन्दी के निर्गुणोपासक सन्तों कबीर, नानक, दादू, रैदास, आदि ने स्पष्ट रीति से ही सामाजिक साम्य का भाव जगाया था जिसमें वर्णभेद, जातिभेद यहाँ तक कि धर्मभेद का भी कोई स्थान न था और ईश्वर की उपासना के सामान्य क्षेत्र में उतर कर सभी के पारस्परिक भेदभाव भुलाकर ही आगे बढ़ने का रास्ता था। सगुणोपासकों में भी गीता के आदर्श पर उत्कृष्ट भक्ति के अन्तर्गत अपना कर्तव्य करते हुए व्यर्थ के वर्ण-वैषम्य और धर्मभेद भुलाने का, वरन् स्त्री-पुरुष के भी स्वाभाविक भेदभाव को भुलाकर उस ईश्वर को स्वामी के रूप में भजने का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध है कि मीराबाई ने स्वयं ही कहा था कि “इस संसार में कृष्ण को छोड़ कर पुरुष है ही कौन ? सभी स्त्री ही तो हैं।” और भगवान् कृष्ण का भी गीता में उपदेश है कि “श्वनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः” ऐसी दशा में भेदभाव को बढ़ाना नहीं, वरन् घटाना ही इन भक्तों का भी उद्देश्य था। हाँ, कुछ सन्त अवश्य जब अपने आदर्श से उतर कर यथार्थ एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण को सामने रखते हैं, तब वर्ण आदि की सत्ता अपने समाज के उपयोगी और कल्याणकारी रूप में मानकर अपनी आदर्श धारणा प्रकट करते हैं और ऐसे कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रमुख स्थान है कि जिन्होंने समाज की रूढ़िवादिता और सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना के बीच का मार्ग ग्रहण किया और संघर्षात्मक सिद्धान्तों एवं विचार-धाराओं

के मध्य सामंजस्य की सुदृढ़ नौका निर्मित की। उनका दृष्टिकोण इस विचार से उस समाज के लिए अधिक यथार्थ और व्यावहारिक है।

इस दृष्टि से कबीर आदि संत कवियों और तुलसी के आदर्शों में थोड़ा अन्तर है। संत रहस्यवादी कवियों ने समाज सम्बन्धी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं की और न इस प्रकार का प्रयत्न कृष्णभक्त कवियों में ही पाया जाता है। पर तुलसी ने हमारे सामने समाज का स्पष्ट और पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। तुलसी का सामाजिक आदर्श* आज भी हमारे लिए उपादेय है और मुख्य-मुख्य तत्वों में वह निर्गुणोपासक संत कवियों की धारणाओं से भी भिन्न नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि संत कवियों ने जिसकी धारणा के संकेत मात्र उपस्थित किये, तुलसी ने उसका स्पष्ट और साकार रूप प्रस्तुत कर दिया है। जिस प्रकार निर्गुणोपासकों के निराकार ईश्वर की विभिन्न विशेषताओं को धारण करनेवाले सगुण और साकार ईश्वर की स्थापना गोस्वामी तुलसीदास जी ने की है, उसी प्रकार उनके समाज के आदर्शों के संकेतों को समाविष्ट करनेवाले समाज का भी स्पष्ट रूप उन्होंने अंकित किया है। संत कवियों ने मनुष्यमात्र के सामान्य धर्मों का ही संकेत किया है, पर तुलसी ने अपने युग के दृष्टिकोण से विशिष्ट धर्मों का विवरण भी दिया है। आजकल भी हमें सामान्य धर्मों को तो उनसे ग्रहण करना है, पर विशिष्ट धर्मों का निर्माण हम आज की परिस्थितियों के अनुकूल, विभिन्न समाजों का ध्यान रखकर कर सकते हैं।

समाज का निर्माण व्यक्तियों द्वारा होता है, अतः व्यक्तियों के आचरण, विचार, चिन्तन, ध्यानसंबन्धी बातें, सामाजिक आदर्श का ही निर्माण करती हैं। व्यक्तिगत आचरण अथवा उपदेशों द्वारा निर्गुणोपासक कवियों ने जिन सामाजिक आदर्शों का संकेत किया है, वे प्रमुखतया ये हैं :—

- (१) सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग
- (२) अहिंसा
- (३) त्याग, परोपकार दया और उदारता
- (४) आत्मसंतोष
- (५) काम-क्रोध-मद-लोभ का त्याग
- (६) सतसंग

* तुलसी के सामाजिक आदर्श पर आगे के लेख में अलग विचार किया गया है।

(७) ईश्वर पर विश्वास

(८) अद्वैतभावना

(९) साम्य भाव (सब को समान समझना)

(१०) वर्ण और वर्गभेद-भाव का त्याग

सन्त कवियों ने अधिकांश इनका प्रयोग व्यक्तिगत उपदेशों के रूप में किया है, परन्तु इनका सामाजिक मूल्य यह है कि प्रत्येक सुसंगठित, व्यवस्थित, शिष्ट एवं समुन्नत समाज में इन बातों का होना अनिवार्य है। इन्हीं को यदि हम नागरिकता की दृष्टि से देखते हैं तो एक सच्चे नागरिक बनने के नियमों के अन्तर्गत इनमें से अधिकांश आ जाते हैं और जो नहीं आते और धर्म एवं व्यक्तिगत साधना के रूप में देखे और समझे जाते हैं, उन पर भी विचार करने से यह निश्चित हो जाता है कि वास्तविक एवं चिरस्थायी सामाजिक साम्य-स्थापना के लिए उनका भी महत्व है। हम इनमें से एक-एक को लेकर सन्तों की वाणी से पुष्ट करके उनके सामाजिक महत्व पर विचार करेंगे।

सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग

किसी भी समाज की सुव्यवस्था और समुन्नति के लिए यह आवश्यक है कि वह सामूहिक रूप से और उसके सदस्य व्यक्तिगत रूप से सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में तत्पर रहें। कोई भी समाज झूठे व्यवहार पर टिक नहीं सकता। हम घर और परिवार में देखते हैं कि किसी एक व्यक्ति के असत्य-व्यवहार और कथन से कितनी उलझन और कितना अनिष्ट हुआ करता है, क्योंकि समुद्र की अनन्त शृंखलावद्ध लहरों के समान एक व्यक्ति के कार्यों का, दूसरे के कार्यों के प्रारंभ, विस्तार और विकास पर प्रभाव पड़ा करता है। साधारण स्थूल सत्य को लेकर ही हम देखते हैं कि यदि हमारे समाचार-पत्रों में एक भी खबर असत्य छप जाये, तो हजारों और लाखों व्यक्तियों के न केवल बुद्धि और मन पर, वरन्, कार्यव्यवस्था पर कितना प्रभाव और आघात पड़ता है। इसीलिए प्रत्येक पत्र से सम्बन्धित संवाददाताओं का जाल और सम्वाददायिनी संस्थायें, शासन के नियमों एवं प्रतिबन्धों का पालन करती हुई चला करती हैं। अनेक नियम और कानून सत्य के विस्तार और रक्षा के हेतु बना करते हैं और न्यायालयों में भी सत्य की जाँच और खोज का इतना प्रबन्ध किया जाता है कि न्यायाधिकारियों का निर्णय वास्तविक हो, सत्य हो। (यदि हम और सूक्ष्मता से देखें तो जितने भी शास्त्र और विज्ञान हैं वे भी सत्य-सिद्धान्तों और प्राकृतिक अथवा भौतिक सत्य-नियमों की खोज किया करते हैं, क्योंकि उनके आधार पर न केवल हम असत्यता की उलझनों से

ही बचते हैं, वरन्, सत्य-नियमों को प्राप्त कर उनके आधार पर अन्य सत्य तथ्यों की खोज कर सकते हैं। यही दशा, मानव मस्तिष्क और अन्तर्बृत्तियों के संबंध में भी है जिनपर मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र कार्य करते हैं। तो वास्तव में मनुष्यजीवन इसी बात पर टिक सकता है कि वह सत्य का ग्रहण कर असत्य का त्याग करता रहे। यदि एक व्यक्ति भी इसके विपरीत करता है तो वह समाज में उलझन पैदा करता है जैसे कि एक धोका देनेवाला असत्य सिद्धान्त, विज्ञान या शास्त्र के विकास में और एक झूठा व्यक्ति या झूठा कथन किसी अभियोग की जाँच में।

मनुष्य समाज का सामुहिक प्रयत्न यह रहता है कि सत्य की वास्तविक खोज करे और जो तथ्य मिलें उसका समाज भी उपयोग करे। आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्र में जो ओषधि खोजी जाती है उसके प्रयोग से समाज का कितना कल्याण होता है और सभी विश्वास के साथ उसका व्यवहार करते हैं, किन्तु झूठे विज्ञापन के सहारे जब अवास्तविक वस्तु का प्रचार हो जाता है, तब कितने व्यक्तियों को उसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। यही बात हमारे सामाजिक आचरण के संबंध में भी सत्य है। मनुष्यसमाज धीरे-धीरे इतना विशाल और जटिल होता जा रहा है कि इसका कल्याण सत्य व्यवहार द्वारा ही हो सकता है। एक असत्य के कारण जितनी गुत्थियाँ पड़ती जाती हैं उनको सुलझाने में न जाने कितने अन्य प्रभावित होने हैं। आज के समाज में मनुष्य को उन्हें सुलझाने का अवकाश नहीं। अतः जो असत्य का व्यवहार या प्रचार करते हैं वे समाज के साथ विश्वासघात करते हैं, वे समाज का अहित करते हैं, उसकी उलझनों को बढ़ाते हैं। इसीलिए समाजों में सत्य के साथ बलात्कार करनेवालों के लिए दंड-विधान है। किन्तु राजकीय दंड-विधान भय द्वारा सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की प्रेरणा देता है। यह विवशता है। हम बाध्य होकर ऐसा करते हैं, समझकर स्वभाव या प्रवृत्तिवश नहीं। अतः इन सत्तों और भक्तों ने सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग का उपदेश दिया है। यदि व्यक्ति सत्य-व्यवहार का स्वभाव बना लेता है, तो वह भयवश वैसा नहीं करता और जहाँ दंड का भय न देखा वहाँ असत्य व्यवहार करने का प्रयत्न उससे विवश नहीं करता है, वरन्, सच्चे व्यवहार की उसकी आदत हो जाती है और वह असत्य कार्य नहीं करता, क्योंकि वह समझता है कि वह पाप है, सामाजिक ग्रहीत है।

इसलिए सत्तों ने सत्य के व्यवहार की शिक्षा बराबर दी है। कबीर ने लिखा है :—

“साँच बराबर तप नहीं , झूठ बराबर पाप ।

जाके हिरदे साँच है , ताके हिरदे आप ॥

तुलसी ने सत्य और असत्य के ग्रहण-द्वारा ही सज्जन-दुर्जन की परख निश्चित की है । सज्जन का स्वाभाव ही सत्य को ग्रहण करने का होता है और दुर्जन का असत्य का ।

मिथ्या माहुर सज्जन ह, खलहि गरल सम साँच ।

तुलसी छूवत पराय ज्यों पारव पावक आँच ॥

अतः यह सुनिश्चित है कि इन भक्त कवियों का मुख्य उद्देश्य हमारे सामाजिक जीवन में सत्य संबंधी चेतना जगाना था और अपने इस कार्य में वे कम सफल नहीं हुए हैं । सत्य की चेतना जाग्रत करने का प्रयत्न हमें दो रूपों में देखने को मिलता है:—(१) मन-वचन-कर्म की एकता में और (२) पाखंड और आडम्बर के विरोध में ।

(१) मन-वचन-कर्म की सत्यता

वचन और कर्म की एकता ही कथनी और करनी की एकता है । अपने को सत्य व्यवहार का प्रमाण मन-वचन-कर्म की एकता से मिलता है । जो मन में विचार या निश्चय है वही वचनों-द्वारा कहना और वही कार्यों-द्वारा करना यह सच्चे व्यक्ति का प्रमाण है । प्रायः किसी भी आदर्श या सिद्धान्त को दूसरों को समझाना तो बड़ा सरल होता है, पर स्वयं वैसा आचरण करना नितान्त कठिन जान पड़ता है । कुष्ठों का जो स्वभाव ही यही होता है कि दूसरों को तो सत्कर्तव्य करने का उपदेश देंगे, पर स्वयं कोई सत्कर्तव्य नहीं करेंगे । संसार के ऐसे ही लोगों के लिए मोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है:—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे ।

जे आचरहि छे नर व घनेरे ॥

इसके साथ ही साथ बहुतेरे ऐसे भी होते हैं कि किसी महापुरुष का वाक्य ले लिया और उसे समय-असमय अपने कथनों के बीच रखने में ही बड़ा संतोष प्राप्त करते हैं । पर यथार्थ में दूसरे को उपदेश देने का अधिकार उसी को है जिसने या तो अपने अनुभव से कोई बात निकाली हो अथवा जो जिस नियम का उपदेश देता है उसका आचरण कर रहा हो । ऐसे लोगों के लिए जिनका अपना निजी अनुभव या आचरण नहीं, फिर भी दूसरों को उपदेश देते हैं कबीर ने कहा है:—

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन रात ।

कुकूर ज्यों भूँक्त फिर, सुनी सुनाई बात ॥

ऐसे व्यक्तियों से समाज को कोई लाभ नहीं होता उलटे बुरा प्रभाव पड़ता है। कहनेवाले तो बहुतेरे हो जाते हैं, पर आचरण करनेवाले ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते। जिनके मन में कुछ है, वचनों में कुछ दूसरा और आचरण में उससे बिल्कुल विपरीत है, उनपर कोई कैसे विश्वास कर सकता है ? ऐसे ही व्यक्तियों के आचरण से समाज में उलझने और समस्याएँ बढ़ती हैं और समाज की जो शक्ति उसके अभ्युत्थान और बिकास में व्यय होनी चाहिए, ऐसी उलझनों के मिटाने में ही लगी रहती है। अतः मन-वचन-कर्म की सत्यता समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए अभिप्रेत है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने समाज के कपटी और सच्चे दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के लिए साफ कहा है। कपटी व्यक्तियों के सम्बन्ध में वे कहते हैं:—

हृदय कपट वर बेषधरि, बचन कहं गढ़ि छोलि ।

अब के लोग मयूर उद्यो, क्यों मिलिये मन खोलि ॥

पर सज्जन का भाव भीतर-बाहर एक है और वह सदा ही सरल, मधुर और उदार है:—

हंसनि मिलनि बोलनि मधुर, कटु करतब मन मांह ।

छुवत जो सकुचै, सुमित सो, तुलसीं तिनकी छांह ॥

इस प्रकार जिनकी कथनी और करनी एक है, जो करते हैं वही कहते हैं और जो कहते हैं उसे अवश्य करते हैं, वे समाज के लिए उज्ज्वल रत्न हैं। वे अनुकरणीय हैं।

दादू ने भी कथनी और करनी की एकता पर जोर देते हुए कहा है कि ससार में विश्वसनीय वही व्यक्ति है जिनकी कथनी-करनी एक है:—

दादू—दादू कथनी और कुछ, करणी करे कुछ और ।

तिन थें मेरा जिब छरै, जिनके ठीक न ठीर ॥

सामाजिक उत्थान के लिए वचन, मन और कर्म की सचाई आवश्यक है। अतः इसके विपरीत भाव और आचरण का संतों ने विरोध किया है।

(२) पाखंड और आडम्बर का शिराध

सरल और सच्चा जीवन व्यतीत करनेवाले संतों और भक्तों ने सत्य के ग्रहण और असत्य के श्मशान के विपरीत जो आचरण देखा है उसका बराबर विरोध किया है। अपने स्वार्थ, लोभ या लालच के वश में पड़ कर, तथा अपने सामने सत्य के प्रति अजागरूक, अध-विश्वासी जन-समुदाय को अनेक प्रकार से पाखंड और आडम्बरों से भ्रम में डालना

और व्यर्थ के आडम्बरों को सत्कर्तव्य के रूप में ग्रहण करने का उपदेश देना समाज का बहुत बड़ा अहित करना है। ये पाखंड और आडम्बर हमारे धर्म का रूप तक पकड़े हैं और इनसे छुटकारा पाना आज भी वैसा ही कठिन है जैसा कि पहले था। पर, यदि सत्य के ग्रहण करने के प्रति जनता प्रवृत्त रहती है, तो इन पाखंडों और आडम्बरों की जड़ें नहीं जम सकती हैं। सत्य के प्रति इतनी अधिक सामाजिक चेतना चाहिए कि जिसके प्रकाश-प्रवाह में असत्य के विकार की आती हुई पतें बराबर बह-धुलकर साफ हो जायें और एक के बाद दूसरी गहरी तहे न जमने पावें। इसीलिए सत्य को ग्रहण करना समाज के प्रत्येक व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है। पर समाज जिस बीच में किञ्चिन्मात्र भी अतजग हुआ कि इस प्रकार की रूढ़ियाँ और आडम्बर धर कर लेते हैं। अतः यह भी सत्य के प्रचार और विकास का ही एक पक्ष है कि समाज में प्रचलित पाखंड और आडम्बरों को दूर किया जाय।

असत्य पर आधारित रूढ़ियों, पाखंडों और आडम्बरों से प्रथम तो सामाजिक चेतना कुंठित होती है और भीरुता आती है; दूसरे आत्मविश्वास का भाव घटता है और तीसरे पारस्परिक भेद-भाव बढ़ता है। यदि समाज के अंतर्गत इस प्रकार के आडम्बर आ गये हों, तो उनको दूर करना पहला काम है, क्योंकि उनके दूर किये बिना विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों का भेद-भाव नहीं मिट सकता है। जब कभी विभिन्न वर्ग या समुदाय बनते हैं तो उसका प्रमुख कारण सत्य की अवहेलना ही हुआ करती है। आज-कल भी विभिन्न दलों और पार्टियों के सन्ध में कहा जा सकता है और पूर्वकालीन वर्गों और सम्प्रदायों के संघर्ष के मूल में भी यही असत्य व्यवहार था। इसी कारण से ऐसे आडम्बरों और पाखंडों का खंडन सत कवियों ने स्थान-स्थान पर किया है। कबीर तो आडम्बरों के विरोधी प्रसिद्ध ही हैं, तुलसी, दादू, नानक, दरिया, सुन्दर, आदि ने भी बराबर पाखंड का खंडन किया है। कबीर की पाखंड-खंडन सम्बन्धी-उक्तियाँ तो इतनी चूटीली हैं कि उनका तीव्र प्रभाव पड़ता है। कबीर ने अपने समय में असत्य को छिपानेवाले पाखंडों को जिन रूपों में देखा वे हैं, वर्ण और धर्म-भेद, वेषभूषा, मूर्तिपूजा का ढोंग, आन्तरिक शुद्धि के बिना तीर्थ-व्रत आदि का आडम्बर आदि।

संतों ने आन्तरिक शुद्धि और सच्चाई पर ही विशेष जोर दिया है। वेश-भूषा से जो साधू हैं, पर भीतरी शुद्धि और सच्चाई उसमें नहीं वह व्यक्ति मानों समाज के कपटाचरण का प्रतीक है। बिना कर्म के मालामाल धारण कर लेने से कोई साधू नहीं हो जाता। कबीर ने कहा है:—

साधू भया तो क्या भया माला पहिरी चार ।

बाहर भेस बनाइया भीतर भरी भँगर ॥

इसी प्रकार आडम्बर का भी उन्होंने तीव्र विरोध किया है :—

मूड़ मुड़ाये हरि मिले सब कोई लेय मुड़ाय ।

बार बार के मूड़ते भेड़ न बँकूँ जाय ॥

साँई से साँचे रहो, साँई साँच सुहाय ।

भावे लंबे केस रख, भावे घुरड़ि मुड़ाय ॥

शारीरिक कष्ट और जप-तप भी बेकार हैं यदि उनसे मन परिष्कृत नहीं होता । शरीर की साधना, बिना मन को वश में किये नहीं हो सकती । लोग व्रत-उपवास करते हैं, पर क्रोध, लोभ, ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव दूर नहीं होते, तो ऐसे व्रतों से कोई लाभ नहीं । कबीर ने लिखा है कि यह साँप को न मार कर उसकी बाँबी पीटना है ;—

बाँबी कूटे बावरे, साँप न मारा जाय ।

गुरख बाँबी ना डसे, साँप सवन को खाय ॥

नानक ने भी आन्तरिक शुद्धि के बिना, व्रत, नियम, तीर्थ आदि को व्यर्थ बताया है :—

बरतु नेम तीरथ भ्रमे, बहुतेरा बोललि कूड़ ।

अंतरि तीरथु नानका, सोधन नाही मूड़ ॥

धर्म और समाज दोनों में भेदभाव डालनेवाली तथा अयथार्थ और दिखावे की बातों का संत कवियों ने तीव्र विरोध किया है । वे माला लेकर उस जाप का विरोध करते हैं, जिसमें कि मन इधर-उधर फिरता है और उस समाज की भी निन्दा करते हैं जो हृदय के कपट-भाव और जीव-हिंसा और हत्या को दूर नहीं कर सकती है । ईश्वर को मन्दिर, मस्जिद या मूर्ति में ही केन्द्रित कर केवल वहीं जाने पर धर्म-भाव को मन में लाना और अन्य स्थानों पर अत्याचार और पाप करना, सत्य-व्यवहार से दूर है । यथार्थ में ये धर्माडम्बर हमें झूठा मार्ग बताते हैं । दादू ने कहा है :—

यह मसीत, यह देहुरा, सतगुर दिया दिखाय ।

भीतर सेवा बन्दगी, बाहरि काहे जाय ॥

अतः आन्तरिक चेतना और विकास का ही महत्व इन संत कवियों की दृष्टि में है ।

इसी प्रकार वे हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र आदि का भेद भी बनावटी मानते हैं और यह आडम्बर की पराकाष्ठा है । जब तक शरीर में प्राण है,

तब तक कबीर कहते हैं कि चाहे उसे हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष चाहे जो कह लो, लेकिन शरीर के नष्ट होने पर सब मिट्टी है ।

माटी के घर साज बनाया, नावे बिन्दु समाना ।

घट विनसे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना ॥

एक हाड़ त्वचा मल मूत्रा, एक रुधिर एक मुद्रा ।

एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को सूद्रा ॥

रज गुण ब्रह्म, तमो गुण संकर, सतो गुणी हरि सोई ।

कहं कबीर राम रमि रहिया, हिन्दू तुरुक न कोई ॥

इसी प्रकार अन्य सन्तो ने भी कहा है :—

ना खुदा मसीते हैं भिदा, ना खुदा खाना कावे ।

ना खुदा कुरान कितेबाँ, ना खुदा नमाजे ॥

ना खुदा मैं तीरथ विट्ठा, ऐवें पंडे भागे ।

बुल्ला शाह जब मुरशिद मिल गया टूटे सब तगावे ॥

—बुल्लेशाह, पृ० १५२ संत बाणी संग्रह

सभी प्राणीमात्र, पंच तत्वों के सम्मिश्रण से बने हैं । उत्पत्ति, जीवन और मरण की प्रक्रिया भी सभी मानव-मात्र की एक है, तब इस प्रकार से मनुष्य-मनुष्य का भेद करना और एक दूसरे के बीच आडम्बर, पाखंड और कृत्रिमता की दीवाल खड़ी करना इन संतों को असह्य था । वे समस्त मानव जाति को एक करके देखते थे और समाज के लिए सच्चे नियमों के पालन करने का उपदेश देते थे । समाज के लिए उनका पहला उपदेश था असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण ।

सत्य के ग्रहण के साथ-साथ ही निर्गुणी सन्तों ने अनेक क्रिया-कलापों से जटिल साधना का विरोध करके स्वाभाविक सच्चे जीवन द्वारा प्राप्त सहज-नुभूति और सहजानन्द की अवस्था को बड़ा महत्व दिया है । इसमें समस्त धार्मिक जीवन की रुढ़ियों को अपदस्थ कर अथवा उन्हें पार कर सच्चे जीवन की आत्मसन्तोषपूर्ण उस अवस्था का वर्णन है जो इन साधकों को अलौकिक आनन्द का द्वार खोल सकी थी । कबीर ने इस अवस्था को 'सहज समाधि' की अवस्था कहा है और बड़ी सीधी-सादी शैली और सरल शब्दों में उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है :—“सच्चे जीवन से प्राप्त सहज समाधि अच्छी है । जिसमें जहाँ भी मैं जाता हूँ वही मानो परिक्रमा है और जो कुछ भी मैं करता हूँ, वही सेवा है, जब सोता हूँ तब दडवत करता हूँ और कोई भाव नहीं रह जाता । इसमें घर और वन एक से हैं, कहीं भी रहूँ यह अवस्था सुख दायिनी है ।”

साधो सहज समाधि भली ।
 गुरु प्रताप जा दिन ते उपजी,
 दिन दिन अधिक चली ।
 जहँ जहँ डोलौ सो पंकरमा,
 जो कछु करौ सो सेवा ।
 जब सोवौ तब करौ बण्डवत,
 पूजौ और न देवा ।
 कहौ सो नाम, सुनौ मो सुमिरन,
 लौंउं पियौ सो पूजा ।
 गिरह उजाड़ एक सम लेखौ,
 भाव न मानौ बूजा ।

प्रसिद्ध दादूपन्थी महात्मा सुन्दरदास जी ने भी इस प्रकार के सहज भाव को संसार के लिए बड़ा ही कल्याणकर कहा है जिसके बिना समस्त कार्य संशययुक्त है । उन्हीं के शब्द हैं:—

जोई आरेंभ कीजिये, सोई संशयकाल ।
 सुन्दर सहज सुभाव गहि, मेटौ भव जंजाल ॥
 ना में मेघाडम्बर भीजौ ।
 शीतकाल जल में नहि छीजौ ॥
 ना में सिर पर करवत सारौ ।
 ना में नींद भूल, तिस मारौ ॥
 बेह कष्ट में करौ न कोई ।
 सहज सहज होइ सो होई ॥
 ना में गलों हिवाले माहीं ।
 स्वर्ग लोक को बंछौ नाहीं ॥
 ना में लट्ठि अधोमुख भूलौ ।
 धूम पान करि में ना भूलौ ॥
 ना में मन बसि करौ तपस्या ।
 कन्द मूल की करौ न हिंस्या ॥

सतगुरु कहि समुझाइया, निज मत बारंबार ।

सुन्दर कष्ट कहा करे, पाया राइज विचार ॥

(सुन्दर ग्रन्थावली, ख० १, प० ३०५)

कबीर ने सच्चे जीवन का आदर्श एक पंक्ति में व्यक्त किया है:—

साईं सेती साँच चलु, ओरां सूर् सुधि भाव ।

जो संत इस प्रकार, संसार को छोड़ कर व्रम में जाकर तपस्या करना अपना लक्ष्य नहीं रखते और न अनेक प्रकार की जटिल साधना-पद्धति ही अपनाते हैं; वे समाज में रह कर स्वाभाविक जीवन के सहज आनन्द का ही मार्ग हमारे लिए सुगम करते हैं । समाज में रह कर स्वाभाविक, सच्चा और आनन्द-पूर्ण जीवन ही उनका ध्येय है और उसके लिए पहला साधन है—**सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ।**

अहिंसा

स्वाभाविक, सच्चे और आनन्दपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए दूसरा साधन **अहिंसा** का है । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रातःस्मरणीय महात्मा गांधी जी ने जो सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रहण किया था और उसकी सामाजिक उपयोगिता हमारे सामने स्पष्ट की थी, उस सिद्धान्त का संग्रह उन्होंने इन्हीं संतों के जीवन और वाणी से ही किया था । जिस सच्चे जीवन को व्यतीत करने का उपदेश इन संतों ने दिया है और जो सत्य को ग्रहण कर असत्य के त्याग में समर्थ हो सकता है उसके लिए अहिंसा की बड़ी आवश्यकता है । अहिंसा, परोपकार की निषेधात्मक पृष्ठभूमि है । परोपकार के अंतर्गत समाज का हित करना होता है और अहिंसा के अन्तर्गत अहित न करना । संसार में किसी का अहित न करना संतों के जीवन का प्रमुख लक्षण है, वरन् वे अहित न करते हुए संसार का हित ही करते हैं ऐसा उनका स्वभाव है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

तुलसी संत सुअंबतर, फूलि फरें पर हेत ।

इतते वे पाहन हनत, उतते वे फल देत ॥

मानवजाति को सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ, प्रकृति और भौतिक तत्वों की खोज के उपरान्त हिंस्र जन्तुओं तथा प्रकृति के शत्रु आदि से त्राण, सुरक्षा और निर्भयता का वरदान मिला है । वायुयान, मशीन, रेल आदि के सहारे भयंकर से भयंकर स्थान भी सुगम हो गये हैं; मनुष्य को अन्य प्राणियों से अब भय नहीं, किन्तु अपने ही से भय है । एक वर्ग, दूसरे वर्ग को; एक जाति, दूसरी जाति को; एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को खा डालने का योजनायें बना रहा है । और इस प्रकार से विश्व की और प्रत्येक देश के मानव-समाज की शांति-भंग हो रही है । किन्तु मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहार, भय और हिंसा का नहीं, वरन्, प्रेम और अहिंसा का होना चाहिए । संतों ने इसी अहिंसा का उपदेश समस्त समाज को दिया था । यदि हम अहिंसा के व्यवहार

को अपना लेते हैं, तो हमारे समाज का न केवल भय दूर हो जाता है, वरन् संघर्ष और अशांति की भी समाप्ति हो जाती है। अहिंसा का यथार्थ भाव, तब आता है जब हम किसी की भी मन, वचन और कर्म से बुराई न करें। जब हम किसी की भी बुराई नहीं करते हैं, तो आन्तरिक निर्भीकता की दशा प्राप्त होती है और मानव समाज पूर्ण निर्भय होकर सुख शान्तिपूर्वक रह सकता है।

यहाँ पर एक और आवश्यक बात समझने की यह है कि अहिंसा का भाव बिना आध्यात्मिक चेतना के चिरस्थायी और गहरे रूप में नहीं जम सकता। अतः इन संत कवियों का भाव कि ईश्वर घट-घट व्यापी है, इस प्रकार के अहिंसापूर्ण व्यवहार के लिए बड़ा ही व्यापक और उर्वर क्षेत्र तैयार करता है। जब हमारे भीतर यह भाव घर कर लेता है कि प्रत्येक के भीतर उस परमात्मा का वास है, तो हम किसी की भी हानि करना अपनी हानि समझते हैं और किसी के प्रति दुर्भाव, उस परमात्मा का अपमान करना। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी भाव से पूर्ण होकर कहा था:—

सीय राममय सब जग जानी ।

करोँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत नामदेव ने भी इसी तत्व को अपने एक पद में इस प्रकार व्यक्त किया है:—

एक अनेक विद्यापक पूरक,

जित देवों तित सोई ।

सब गोविंद हैं सब गोविंद हैं,

गोविन्द बिन नहिं कोई ॥

कहत नामदेव हरि की रचना,

देखो हृदय विचारो ।

घट-घट अन्तर सर्व निरंतर,

केवल एक मुरारी ॥

जब घट-घट-व्यापी, इस तत्व का आभास मिल जाता है, तब यथार्थ अहिंसा का भाव उत्पन्न होता है। इस तत्व का आभास जिसे मिल जाता है, वह एक कटु बात भी किसी के लिए नहीं कह सकता। जब सभी में ईश्वर है तब हम कड़ुवी बात किस के लिए कहते हैं। इसी भाव से तिलमिलाकर कबीर ने कहा था:—

घट घट में वह साईं रमता,

कटुक वचन मत बोल रे ॥

दादू भी इसी भाव से भरे हुए कहते हैं कि संसार में वही ईश्वर सभी में व्याप्त है अतः किसका बुरा करें और किससे बैरभाव मानें । अतः अहिंसा और बैरभाव की हीनता ही सन्तों का लक्षण है । दादू के शब्द हैं :—

आपा मेटे हरि भजं, तन मन तजै बिकार ।

निरबंरी सब जीव सों, दादू यहु मतिसार ॥

किस सो बंरी ह्वै रह्या, दूजा कोई नाहि ।

जिसके अंग थं ऊपण्या, सोई है सब माहि ॥

सन्तों और भक्तों के इस प्रकार के अहिंसा भाव में समाज का यथार्थ कल्याण छिपा है । यदि हम सच्चे अहिंसक हो सकें, तो मानव-समाज का भय दूर हो सकेगा और जो शक्ति दूसरे को हानि पहुँचा कर व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना में लगी है वह सामूहिक रूप से सामाजिक कल्याण कर सकने में प्रवृत्त होगी ।

त्याग, परोपकार, दया और उदारता

सन्तों और भक्तों के जीवन में इन चारों गुणों का समावेश प्रचुर मात्रा में पाया जाता है । त्याग और उदारता की भावना ही दया की पृष्ठभूमि बनाती है और जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति परोपकार के काम कर सकता है । हमारे सामाजिक जीवन में आजकल भी कितनी ही परोपकार और निस्वार्थ सेवा करने वाले संस्थायें हैं जिनका काम सामाजिक साम्य की स्थापना करना है । समाज में जो विषमता है—शारीरिक, आर्थिक अथवा बौद्धिक—उसको दूर करने का कार्य ही हमारे अस्पताल, दान-संस्थायें और पाठशालायें विद्यालय आदि कर रहे हैं । किन्तु इन संस्थाओं के कार्यों में हमें व्यक्तिगत संतोष नहीं होता । हम दया का भाव तभी व्यक्त करते हैं जब दयनीय व्यक्ति हमारे सामने होता है । अतः इस कार्य की एक आदर्श अवस्था ऐसी भी हो सकती है कि जब दया के भाव की आवश्यकता ही न रह जाय । यदि किसी समाज में समस्त व्यक्ति मज्जन और सत्कर्तव्यशील हों, तो उसमें कोई भी समस्याएँ नहीं रह सकतीं । उस समाज के निर्माण के दो ढंग हैं एक तो सब को आर्थिक एकता और भौतिक साधनों की समानता प्रदान की जाय और दूसरे हमारे भाव आर्थिक विषमता से प्रभावित न होकर एकता और समता की ओर अग्रसर होते रहें । सन्तों और भक्तों का आदर्श दूसरे प्रकार का है और हम आजकल प्रथम प्रकार के साधन का प्रबलम्बन कर रहे हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही की आवश्यकता रहती है । शासन की ओर से कितनी ही साम्य की परिस्थिति बनाने का प्रयत्न किया जाय, यदि मनुष्य को मनुष्य की समानता का स्वयं ध्यान नहीं

तो छल, कपट से, चोरी और लुक छिप कर विषमता के बीज बराबर उगते रहेंगे। अतः आत्मत्याग और संतोष की भावना आवश्यक है। त्याग और संतोष, आर्थिक साम्य के साथ-साथ परमोपयोगी हैं।

किन्तु, सन्तों और भक्तों ने इस आर्थिक साम्य की कोई अपेक्षा किये बिना ही राजकीय या शासन की ओर से कोई समत्व का प्रयत्न न होने पर भी परोपकार, दया और उदारता के द्वारा, मानव समाज में ययार्थ साम्य-स्थापना करने का प्रयत्न किया है। परोपकार का भाव, समाज में एक दूसरे के स्वार्थ को ध्यान में रखने के भाव का आगे और विकास है। यदि हम अपने लिए प्रयत्न न करके दूसरे के सुख, समृद्धि और आनन्द का प्रयत्न करें और दूसरा हमारे लिए करे, यदि हमारा समाज इतना सात्विक त्यागी, समझदार और उदार हो, तो जीवन का जो आनन्द हमें प्राप्त होगा, वह असाधारण होगा। अपने-अपने परिवारों में भी हम देखते हैं कि जिनमें सभी समझदार व्यक्ति एक दूसरे का ध्यान रख कर, श्रद्धा विश्वास और प्रेम के साथ अपना व्यवहार करते हैं, बड़े सुखी हैं और दूसरे परिवार जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी खींचतान मचाता रहता है, बराबर दुख और संकट में फँसते जाते हैं। जो जिसके लिए अनिवार्य है वह उसे पहल मिले, जो जिसके लिए आवश्यक है, उसकी इच्छा उसके बाद है।

राज्य के सम्बन्ध में ही हमारा आदर्श दूसरे प्रकार का रहा है। जिस राज्य के लिए हमारे देश और विदेश में भाई-भाई, चचा-भतीजे, पिता-पुत्र तक में संघर्ष और एक दूसरे की हत्याएँ तक हुई। उसी राज्य के सम्बन्ध में राम के परिवार का आदर्श कितना सराहनीय है। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम और भरत दोनों का ही, राज्य जैसी बड़ी और महत्वपूर्ण वस्तु के लिए भी पूर्ण त्यागभाव स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। दोनों ही उसे ठुकराते हैं। जब राज्य के लिए यह भाव हो तब साधारण वस्तुओं की बात ही क्या है? इस प्रकार के त्याग का परिणाम होता है परस्पर प्रगाढ़ प्रेम, और जिस समाज में इस प्रगाढ़ प्रेम की धारा बहती है वह पूर्ण आनन्द में मग्न रहता है। यह वह दशा है जिसमें आर्थिक और भौतिक क्षीणता या साधनहीनता भी कोई प्रभाव नहीं डालती। वे एक रोटी के ही टुकड़े कर आपस में बाँट कर खा लेंगे, पर झगड़ा न करेंगे। सन्तों का आदर्श तो इससे भी ऊँचा रहा है, दूसरे को खिला कर स्वयं खाना। भारतीय आतिथ्य कौन नहीं जानता? इस आतिथ्य की जड़ों को जमानेवाला, सन्तों और भक्तों द्वारा प्रवाहित त्याग और परोपकार का भाव ही था। परोपकार और उदारता का भाव समाज के लिए कल्याणकारी समझकर ही कबीर ने कहा था—

“हाड़ बड़ा हरिभजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देय ।

अकिल बड़ी उपकार कर, जीवन का फल येह ॥

जीवन की सफलता और कृत-कृत्यता उपकार में ही है। भक्तों की धारणा है कि उपकार और सद्-व्यवहार, जो भी मनुष्य करता है और दूसरों के लिए किया गया समझता है, वह यथार्थ में उसके ही अपने लाभ का होता है। एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

ऋतु बसन्त जाचक भया, हरषि बिया द्रुम पात ।

ताते नख पल्लव भया, बिया दूर नहि जात ॥

जिनके हृदय में दूसरों के प्रति यथार्थ करुणा और समवेदना का भाव जाग्रत नहीं हुआ है, उनके लिए वह भाव बड़ा हितकारी है, न परार्थ की भावना से सही तो स्वार्थ की भावना से ही सही, परोपकार तो होगा, समाज में दूसरे व्यक्ति के कल्याण का ध्यान तो आया। किन्तु, यथार्थ में परोपकार का भाव स्वार्थ को नहीं देखता। भक्तों का आदर्श यही है कि कोई चाहे कितना ही हमारा अनिष्ट करे, हमें उसका अनिष्ट नहीं करना चाहिए। अनिष्ट करना, संकीर्ण दृष्टि से ही संभव है, क्योंकि जो जैसा करेगा, उसे वैसा ही मिलेगा इसलिए वे अपकार करनेवाले के लिए भी उपकार करने का उपदेश देते हैं। यह भाव गांधी-वाद के कितने समीप है। कबीर का कथन है।

जो तोकूँ काँटा बुँद, ताहि बुँद तू फूल ।

तोकोँ फूल के फूल हैं; बाको हैं तिरसूल ॥

इस प्रकार की भावना का प्रभाव अन्ततोगत्वा यही होता है कि सभी द्रवित हो जाते हैं और समाज में किसी का भी अनिष्ट या अपकार न करने की चेतना जाग्रत हो जाती है।

आत्मसन्तोष

यह परोपकार का भाव तभी आवेगा, जब किसी भी कार्य के संबंध में, विशेष रूप से फल के सम्बन्ध में, ईश्वरार्पण बुद्धि हो, जिसका उपदेश गीता में इन शब्दों में हुआ है—

कमण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूमाः ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

यह समर्पण बुद्धि, त्याग से उत्पन्न बुद्धि है। इससे युक्त भक्त कवियों में आत्मत्याग-सम्बन्धी बड़े सुन्दर भाव व्यक्त हुए हैं। कहते हैं—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।

तेरा तुझको सौंपते, क्या लागेगा मोर ॥

अहंभाव के त्याग और त्यागवृत्ति का इस प्रकार का भाव तभी आता है जब यथार्थ ही आत्मसन्तोष जाग्रत होता है । अतः सामाजिक व्यवहार के लिए समर्थ और योग्य व्यक्ति में आत्मसन्तोष का भाव बड़ा ही आवश्यक है । आत्मसन्तोष में लोभ-लालच आदि का भाव नहीं और न आगे जोड़कर रखने की प्रवृत्ति है । भक्तों का आत्मसन्तोष संसार के प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श चाहे न हो सके पर समाजसुधारक नेताओं के लिए और साधु-सन्तों के लिए तो यह आदर्श है—

उदर समाता अन्न ले, तनहि समाता चीर ।

अधिकांहि संग्रह ना करै, ताका नाम फकीर ॥

सन्तोष धन के प्राप्त कर लेने पर फिर अन्य धन उसके सामने तुच्छ हो जाते हैं । और यथार्थ में जीवन उन्हीं का सुखी है जिनको यह सन्तोष धन प्राप्त हो गया है । सन्त पलटूदास ने भी कबीर के ही भाव को लेकर कहा है—

उदर बराबर खाइले, पलटू लगै न दाग ।

बासी धरै चकोर जो, घर में लागै आग ॥

अतः सन्तों ने संग्रह करने के भाव का विरोध किया है जिसके आधार पर ही वैषम्य होता है । उनका आदर्श तो बहुत बड़ा है । संतोष आने पर फिर कोई किसी से हीन नहीं है । निर्धनता और ईर्ष्या भी नहीं रह जाती । इसी भाव में मस्त हो कर कबीर कहते हैं—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह ।

जिनको कछू न चाहिये, सोई शाहंशाह ॥

अतः सन्तों का आदर्श उस समाज का आदर्श है जहाँ सभी शाहंशाह हैं, किसी को किसी की प्रजा होने की आवश्यकता नहीं है, न हीन समझने की आवश्यकता ही । सभी अपने घर के हाकिम हैं, अपने घर के राजा हैं, इस परिस्थिति के लिए चाहिए संतोष भाव । सन्तों के विधान में कोई रैयत नहीं, इसी भाव को नीचे की पंक्तियों में महात्मा पलटूदास ने कहा है—

रैयत कौन कहावे घर घर हाकिम होय ।

घर घर हाकिम होय अदल फिर कौन चलावे ।

सब नायक होय जायँ बेल फिर कौन लदावे ॥

गधा चलै हर बेल कौन फिर बेसहं तुरकी ।

मिले कूप में मुक्ति कौन फिर मारं बुड़की ॥

काँच धुए होय कनक पारस की रहै न इच्छा ।

घर घर सम्पति होय, कौन फिर माँगे भिच्छा ॥

पलटू तैसे सन्त हँ भेष बनावे कोय ।

रैयत कौन कहावे घर घर हाकिम होय ॥

अतः सन्तों के आदर्श का साम्य टिकाऊ साम्य है। उनकी दृष्टि से यथार्थ में बड़प्पन भी उसका है जिसमें ऊपर लिखे गुण हों अन्यथा संसार और समाज की उपयोगिता की दृष्टि से एकांतिक समृद्धि पर्वतशिखाओं की सी जड़ उच्चता और हृदयहीन गौरव व्यर्थ है। जिसके भीतर भक्ति है अर्थात् जिसके भीतर ऊपर कहे गये गुणों के आधार पर आत्मसन्तोष, परोपकार, त्याग आदि की भावनाएँ जाग्रत हो चुकी हैं, जिसने, सामंजस्य बुद्धिद्वारा सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग तथा अहिंसा आदि का प्रण लेकर जीवन भर ईश्वर का प्रेम जो मनुष्य मात्र के प्रेम का द्योतक है प्राप्त किया है, वही यथार्थ में बड़प्पन की सार्थकता का लाभ उठाता है। संत पलटूदास ने इसके विपरीत बड़प्पन को व्यर्थ बतलाते हुए कहा है—

बढ़ते बढ़ते बढ़ि गये, जैसे बढ़ी खजूर ,

जैसे बढ़ी खजूर पथिक छाया नहीं पावे ।

ज्यों त्यों कै जो करे तहि कैसे कोउ खावे ।

पात में काँटा रहे छूवत कै लोह आवे ।

पेड़ सोऊ बेकाम कुवा को धरन बनावे ।

सम्पति में बढ़िजाय दया बिन भला भिखारी ।

जातिहु ते बढ़ि जाय भक्ति बिन भला चमारी ।

पलटू सोभा दोउ की दया भक्ति से पूर ।

बढ़ते बढ़ते बढ़ि गये जैसे बढ़ी खजूर ॥

अतः इस यथार्थ बड़प्पन की अवस्था के लिए आत्मसन्तोष और काम-क्रोध मद-मोह लोभ का त्याग आवश्यक है। काम-क्रोधादि के रहते हुए मनुष्य समाज के लिए आदर्श व्यवहार उपस्थित नहीं कर सकता। इन अवगुणों से युक्त मनुष्यों का अनुकरण करने से ही समाज के अन्तर्गत विद्वेष, घृणा और हिंसा की भावनाएँ बढ़ती हैं और समाज उलझनों में फँसता जाता है। ये भाव भक्तों और सन्तों की व्यक्तिगत साधना के लिए ही आवश्यक नहीं, वरन् समाज के उत्थान के लिए भी आवश्यक हैं। अपने आत्मसंयम द्वारा हम स्वयं समाज में नियंत्रण और अनुशासन की भावना जाग्रत कर सकते हैं। फिर हमारे ऊपर कोई शासन हो या न हो, यदि आत्मत्याग है और क्रोधादि से

निष्कृति हमें मिल चुकी है, तो फिर हम आत्मवशता को स्वीकार करते हैं, परवशता को नहीं। शासन के नियम तो उनपर लगाये जाते हैं जिनके भीतर सामाजिक मंगल-भावना का बोध और विवेक नहीं है ? जो इतने सकीर्ण और अनुदार हैं कि अपने स्वार्थ के पीछे समाज और मनुष्यता का बलिदान कर सकते हैं, परन्तु भक्त कवियों ने जिन आदर्शों को सामने रखा है, वे इतने उच्च, गंभीर और सुदृढ़ हैं कि उनका आश्रय लेने पर हमारा समाज, यथार्थ और गंभीर सामाजिक संघटन और कल्याणकारी जीवन की नींव डाल सकता है। इन आदर्शों को ग्रहण कर चलनेवाले जीवन को प्रेरणा देनेवाला तत्त्व आन्तरिक प्रेम और आध्यात्मिक एकता है। ऊपर से लगाये गये राजकीय विधान नहीं, जिनका हम व्यक्तिगत स्वार्थों के वश चोरी चोरी उल्लंघन किया करते हैं और जिन नियमों के उल्लंघन में हम अपनी विजय समझते हैं। अतः जब तक इन कल्याणकारी नियमों के साथ चारित्रिक और आध्यात्मिक चेतना जागरूक नहीं होती तब तक अन्य प्रकार के बाह्य प्रयत्न असफलता की कठोर दीवाल से ही टकराते रहेंगे।

सतसंग

विकार को दूर करने के लिए, विवेक और चेतना को सजग रखने के लिए, आत्मिक विकास और जीवन के यथार्थ आनन्द के लिए भक्तों ने सतसंग को सर्वोच्च बताया है। सतसंग का प्रभाव अबोध है, विलक्षण है। तुलसी ने मानव जीवन में सतसंग से बढ़कर और किसी भी सुख को नहीं बताया। उनका स्पष्ट कथन है—

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग ।

तुलहि न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ।

यह सतसंत समस्त विकारों को दूर करनेवाला भी है। सज्जनों की संगति का प्रभाव रोग में दवा का सा पड़ता है:—

एक घरी आधी घरी, आधी में पुनि आध ।

तुलसी संगति साधु की, हरै कोटि अपराध ॥

अतः यहाँ पर सामाजिक सुधार की गुत्थी सुलभ जाती है। समाज में सज्जन पुरुषों का होना और उनका सज्जनवत् सम्मान होना दोनों बातों की हमें बड़ी आवश्यकता है। अन्यथा बछड़े को कुत्ता बनाकर अपना स्थार्थ सिद्ध करनेवाले दुर्जनों की समाज में कमी नहीं। सज्जनों की प्रतिष्ठा और सम्मान, सज्जनता के भाव का प्रचार करना, समाज के हितचिन्तकों का मुख्य

काम है। अपनी चमड़ी बचाकर दुष्टजनों की दुष्टता की भी प्रशंसा करना, समाज में अज्ञान और अन्याय के बबूल बोना है। जब तक हमें किसी भी अन्याय एवं दुष्टता का विरोध करने के लिए सज्जनता का सहारा नहीं मिलेगा, तब तक टट्टी की आड़ में शिकार चलता रहेगा। सज्जन का आगे बढ़ाना, उसको अधिकार देना समाज का कल्याण करना है। अतः हमें सबसे पहले सज्जनों के प्रति सत्कार और समादर की भावना जगाना चाहिए। प्रायः आज कल अपने अहंभाव के अभिमान में आकर हम जिनमें यथार्थ गुण हैं उनका भी आदर नहीं करते हैं और सद्भाव एवं अहिंसा की सरल एवं सात्विक वृत्ति को प्रोत्साहन न देकर उनका अपमान करते हैं और उन्हें अपदस्थ कराना चाहते हैं। जो बड़े-बड़े सिद्धान्तों को लेकर भी चलनेवाले हैं उनके भी सिद्धान्त और व्यवहार में विषमता देखने की मिलती है। सबको बराबर समझने और सबकी सहायता करने का दावा करते हुए भी हम प्रायः अपनी झूठी अहम्मन्यता और दभ के कारण व्यवहार में इसके विपरीत आचरण करते हैं। प्रतिष्ठा का गुण अपने में न रखते हुए भी बाह्य और भौतिक संपत्ति की शक्तिवश हम बरबस दूसरों का आदर-भाव पाना चाहते हैं। ये सब बातें सज्जनता के वायुमण्डल को प्रचण्ड बनाने में बाधक हैं। इस प्रकार हम न सतसंग का महत्व समझते हैं और न उससे कोई लाभ उठा सकते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी पुस्तकीय ज्ञान को ठूस देने की अपेक्षा सतसंग द्वारा जीवन का विकास विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। भारतीय शिक्षा की व्यवस्था जो आश्रम और गुरुकुल-प्रणाली के रूप में थी, सतसंग को ही प्रधान मानकर चलती थी। अतः सतसंग का सामाजिक जीवन के परिष्कार और उत्थान दोनों की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। आजकल भी जो अनेक संस्था परिषद्, समाज, समारोह तथा सम्मेलन आदि का प्रचलन है वह सतसंग को ही दृष्टिकोण में रखकर है, पर सतसंग का वास्तविक मूल्य हम आजकल समझ नहीं रहे। मतसंग जितना आजकल सुलभ है, उतना पहले कभी न था। फिर भी हमारी प्रवृत्ति जितनी अहम्मन्यता और अश्रद्धा से आज भरी है, उतनी भी वह पहले कभी नहीं थी।

भक्तों ने सतसंग को हमारे जीवन के लिए पारम माना है, जो विकार-युक्त लोभ के समान जीवन को अपनी सत्प्रेरणा द्वारा सोने के समान कर सकता है। सतसंग से जिनका जीवन सुधर गया उनकी कथाएँ हमारे समाज में काफी प्रचलित हैं। ऐसी सतसंगति का हमारे सामाजिक जीवन में कम मूल्य नहीं।

सभी भक्त कवियों ने सतसंग के महत्व का वर्णन किया है । कबीर, तुलसी, सूर आदि ने इसके प्रभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । रैदास भक्तों और संतों के लिए सतसंग के आनन्द का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

आज दिवस लेऊँ बलिहारा ।
मेरे घर आया राम प्यारा ॥ टेक
आंगन बैंगला भवन भयो पावन ।
हरिजन बैठे हरिजस गावन ॥१॥
करूँ बंडवत चरन पखारूँ ।
तन मन धन उन ऊपर वारूँ ॥२॥
कथा कहें ग्रह अर्थ विचारें ।
आप तरें औरन को तारें ॥३॥
कह रैदास मिलै निज दासा ।
जनम जनम के काटें पासा ॥४॥

अतः भक्तों के लिए तो हरिजन-हरिभक्त स्वयं ईश्वर का स्वरूप हैं । सज्जनों और संतों के आदर से समाज में ज्ञान और सद्वृत्तियों का प्रकाश फैलता है । अतः सतसंग का सामाजिक महत्व है ।

ईश्वर पर विश्वास, अद्वैत भावना और साम्य

भक्तों-द्वारा प्रतिपादित इन समस्त आदर्शों के मूल में ईश्वर की सत्ता पर अटूट विश्वास है । ज्ञानी संत ईश्वर, जीव और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं देखते और सभी को परमात्म-रूप मानते हैं । भक्त ईश्वर की सत्ता को ही समस्त चर और अचर में व्याप्त देखते हैं, अन्तर्यामी रूप में वह समस्त जड़ और चेतन में निवास करता है । विराट् रूप में समस्त विश्व और ब्रह्माण्ड उसी के अंग प्रत्यंग हैं और सब मिल कर उसके रूप को पूरा करते हैं । अतः समस्त मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त ईश्वर के दर्शन करना, प्रत्येक को उसी रूप का समझना, गहरी सामाजिक साम्य भावना के लिए आवश्यक है । सामाजिक न्याय, एकता और साम्य की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करना हितकर है । हमें अनवरत और निरवलंबता की अवस्था में भी उसका सहारा रहता है, साथ ही व्यक्ति द्वारा दुराचरण या अन्याय को देखकर भी उस परम व्यक्तित्व के द्वारा न्याय की आशा रख कर अपनी ओर से हम सत्कर्तव्य की ओर चलते रहते हैं । ईश्वर का अद्वैतभाव से दर्शन और उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास हमें सत्य को ग्रहण कर चलने में बल देता

है और भौतिक परिस्थिति की विषमता उपस्थित होने पर भी हमारे आचरण और व्यवहार में सामंजस्य को बनाये रखता है। अतः भक्त कवियों ने अनन्य-भाव से उसी घट-घट व्यापी की सत्ता के दर्शन किये हैं। संत कवियों का दृष्टिकोण बहुत उदार है और उसका सामाजिक महत्व है। उस तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम करके उन्होंने रूढ़ि का खंडन कर समाज में मनुष्य का महत्व बढ़ाया है। ज्ञान-समुद्र ग्रन्थ के प्रारंभ में भक्त कवि सुन्दरदास वन्दना करते हुए कहते हैं :—

ब्रह्म प्रणम्य प्रणम्य गुरु पुनि प्रणम्य सब संत ।

करत मंगलाचार इमि नासत विघ्न अनंत ॥

उन्हें ब्रह्म, गुरु संत उह, वस्तु विराजत एक ।

वचन विकास विभाग त्रय बन्दन भाव विवेक ॥

इस प्रकार से ब्रह्म, गुरु, संत एक रूप हैं। संतों में ईश्वर के ही गुण विद्यमान रहते हैं। ईश्वरीय चेतना और जागृति के रूप सन्त हैं। अतः निर्गुणोपासक सन्तों ने भी निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप में गुरु और सन्त जनों को देखा है। कबीर ने उसके दोनों रूपों के प्रति कर्तव्य बताते हुए भी एक रूप से रूढ़िबद्ध न होने की बात कही है :—

सरगुण की सेवा करी ,

निरगुण का कर ज्ञान ।

निरगुण सरगुण के परे ,

तहाँ हमारा ध्यान ॥

उसका निर्गुण रूप, ज्ञान के लिए और सगुण रूप व्यवहार के लिए है। सेवा के लिए सगुण रूप है और ईश्वर के सगुण रूप इस संसार में संत जन ही हैं। महत्मा पलटू साहिब संत और राम को एक मानते हुए लिखते हैं :—

संत और राम को एक कै जानिये ,

दूसरा भेद ना तनिक आनै ।

लाली ज्यों छिपी है मेंहदी के पात में ,

दूध में घीव यह ज्ञान ठानै ॥

फूल में बास ज्यों काठ में आग है ,

संत में राम यहि भाँति जानै ।

बास पलटू कहें संत में राम हैं ,

राम में संत यह सत्य मानै ॥

इस भाव में कोई असंगति नहीं। जो ईश्वर घट-घट में व्याप्त है वह

संतों में विशेष रूप से प्रकाशित है। अतः घट-घट में व्याप्त ईश्वर-भावना का ही यह एक पक्ष है। संत इसलिए भी ईश्वर रूप हैं कि उनकी कृपा से ही इस प्रकार ईश्वर की व्यापकता प्रकट होती है। ईश्वर के सम्बन्ध का यह अनुभव समदृष्टि या साम्य भावना या सामंजस्ययुक्त बुद्धि द्वारा ही सुलभ होता है उसके बिना नहीं, और यह समदृष्टि या साम्यभावना, लोक जीवन या सामाजिक जीवन के लिए भी महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि यह पारस्परिक भेद-भाव का नाश कर सभी को उस ईश्वर के नाते एक समझने की निर्मल दृष्टि प्रदान करती है। बिना इस समदृष्टि के भ्रम नहीं मिट सकता और यही भ्रम ही ससाज की उलझनों का मूल है। अतः साम्य बुद्धि को पाने पर ईश्वर के अनुभव का प्रकाशन कबीर ने यों किया है :—

समदृष्टी सतगुर किया, मेटा भरम बिकार ।

जहँ देखौ तहँ एक ही, साहिब का दीवार ॥

समदृष्टी तब जानिये, सीतल ममता होय ।

सब जीवन की आत्मा, लखै एक सी सोय ॥

अतः जो विश्वास या जो आदर्श हमें इस प्रकार की दृष्टि देने में समर्थ हो सके जिससे कि पारस्परिक भेद-भाव मिट सके, वह मानव समाज के लिए परम कल्याणकारी है। अतः संत कवियों की इस आध्यात्मिक चेतना के भीतर हमें सामाजिक साम्य का यथार्थ रूप स्पष्ट दीखता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे जीवन में भी यथार्थ सामाजिक साम्य के लिए इसी प्रकार की सामंजस्यपूर्ण दृष्टि चाहिये जिसके बिना ऊपर से आरोपित सामाजिक साम्य के प्रयत्न हमारे जीवन में गहरे नहीं उतर सकते।

इस साम्य भावना या समदृष्टि को संतों ने पा लिया था। और इसी को प्राप्त करने के कारण ही समाज के अन्तर्गत व्याप्त भेद-भाव की भावना उन्हें असह्य जान पड़ी और लगभग सभी संत कवियों ने इस प्रकार के धर्म, वर्ग, जाति या वर्णभेद के विपरीत कहा है। उन्होंने समस्त कृत्रिमता से उत्पन्न भेद-भाव को चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, या व्यक्तिगत किसी भी जीवन में क्यों न हो व्यर्थ कह कर मनुष्य को पहचानने का उपदेश दिया है। मानव को सेवा ही संसार में सबसे बड़ा काम है और उनके इस भाव को सामने पाकर हम कह सकते हैं कि आज कल की हमारी सामाजिक धारणाएँ और आदर्श इनसे नितान्त भिन्न नहीं हैं। कृत्रिम एवं जड़ मूर्तिपूजा आदि की अपेक्षा जीवित मनुष्य की सेवा पर अधिक जोर देते हुए संत पलटूदास ने कहा है :—

जल, पखान बोलें नहीं, ना कुछ पिये, ना खाय ।

पलटू पूजें संत को, सब तीरथ तरि जाय ॥

इसी प्रकार :—

हिन्दू पूजें देवखरा, मुसलमान मसजिद ।

पलटू पूजें बोलता, जो खाय, दीद बरदीद ॥

इस प्रकार से रूढ़ि को खंडन कर सामाजिक कल्याण की बातें सन्तों की वाणी में हमें बराबर देखने को मिलती हैं, जो उनके सामाजिक आदर्शों के संकेत हैं ।

जातिभेद और वर्णभेद द्वारा जो समाज की हित-हानि हुई है उसको दृष्टि में रखकर रूढ़िगत भेद का खंडन करते हुए संत कवियों ने बड़ी खरी बातें कही हैं और यह सिद्ध किया है कि यथार्थ में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं, यह कृत्रिम भेद-भाव ही सारे लड़ाई-झगड़े की जड़ है । कबीर ने लिखा है :—

हिन्दू कहूँ तो हौं नहीं, मुसलमान भी नाहि ।

पाँच तत्व का पूतला, गैबी खेले माहि ॥

गोरखनाथ ने भी कहा था कि “हिन्दू-मुसलमान खुदाई के बन्दे, हम जोगी न रखे किसई के फन्दे” । जब हिन्दू-मुसलमान में भेद-भाव नहीं, तब सन्त की दृष्टि से ब्राह्मण-क्षत्री-वैश्य-शूद्र में क्या भेद हो सकता है ? कबीर का विचार है कि वास्तविक भेद कोई नहीं, कृत्रिमता का ही भेद है । जन्म और मृत्यु के समय दोनों एक ही हैं । बीच के जीवन में कुछ बाह्य पदार्थों के आधार पर हम चाहे उनमें भिन्नता मानें, पर यह धोखा देना है । उन्होंने लिखा है :—

जन्मत शूद्र भये पुनि शूद्रा ।

कृत्रिम जनेऊ घालि जग दुंढा ॥

संत नानक जी भी इस प्रकार का भेद-भाव व्यर्थ मानते हैं । उनके विचार से ईश्वर के लिए कोई भेद इनमें नहीं है ; वह किसी को कोई वस्तु वर्णभेद का ध्यान रख कर नहीं देता है, वरन् साधना करनेवाले व्यक्ति को वह चाहे जिस वर्ण का है उसकी साधना का फल देता है । ईश्वर की कृपा सब पर है ।

खत्री ब्राह्मण शूद्र वंश, जाति पूछि न देई दाति ।

नानक भागै पाइये, त्रिह पहरै पिछली राति ॥

दादू, मलूकदास आदि संतों ने भी इसी प्रकार के भावों का प्रकाशन किया है । पलटूदास जी कर्म को ही प्रधान मानते हैं और वह कर्म है भक्ति, जिसके पास है वही पूज्य है । उनका कथन है :—

पलटू ब्राह्मण है बड़ा, जो सुमिरे भगवान ।

बिना भजन भगवान के, ब्राह्मण ढेढ़ समान ॥

ब्राह्मण सतोगुणी शक्तिसम्पन्न व्यक्ति है, उसमें ज्ञान, भक्ति का प्रकाश होना चाहिए। यथार्थ अन्तर यदि पड़ सकता है तो इस प्रकाश से। जब वह प्रकाश ही नहीं, तब फिर दूसरों से क्या अन्तर रहा ? यथार्थ में भक्तिपथ पर चलनेवाले सभी जन संत या भक्त एक जाति के ही हैं। उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। इसीलिए स्वामी रामानन्द ने अपने शिष्यों को वैरागियों की जाति कहा था, जिसमें चारों वर्णों के व्यक्ति ही नहीं कबीर जैसे मुसलमान भी थे। उनमें बहुत से अस्पृश्य और निम्न श्रेणी के थे, जैसे सेना, घना, सदाना, रैदास आदि सभी इसी प्रकार के संत थे। अतः इनमें जाति-भेद काहे का ? ईश्वर को पहिचाननेवाले सभी एक हैं। पलटूदास ने कहा है कि इस साम्य के भीतर वर्णभेद भाव भी व्यर्थ है:—

चारि बरन को भेटि कै, भक्ति चलाया मूल ।

गुरु गोविन्द के बाग में, पलटू फूला फूल ॥

यह साम्य भावना का फूल था जिसकी सुगंध आज तक इन भक्तों की बास्तियों में महक रही है। और इसी साम्यभावना से प्रसूत एकत्व की ओर संकेत करते हुए महात्मा दादूदयाल ने कहा था कि:—

जे पहुँचे ते कहि मये, तिनकी एकै बाति ।

सबे सथाने एक मति, उनकी एकै जाति ॥

तो आज भी हमें इन सन्तों की सामाजिक साम्य और एकता की भावना को आदर्श मान कर सामाजिक सुधार करना है। समाज का वह निर्माण, जो इन सन्तों की निर्मल दृष्टि-द्वारा देखे तत्वों, और सूक्ष्म संकेतरूप वाणियों द्वारा व्यक्त आदर्शों के सहारे होगा; वह चिरस्थायी होगा। उसकी एकता और समता की नींव पर युग-युग तक खड़े रहनेवाले सर्वजन कल्याणकारी भव्य भवनों का निर्माण हो सकता है। अभ्यथा ऊपरी साम्य पर आधारित कागज के घर एक ही भोंके में न जाने कहाँ उड़ जायेंगे !

गोस्वामी तुलसीदास का समाजवाद

आधुनिक संसार विभिन्न वादों का लीलाक्षेत्र है। ये वाद प्रमुखतया राजनीतिक हैं जो हमारे साहित्य, समाज और संस्कृति सभी को प्रभावित करते हैं। हम प्राचीन काल में इन वादों का प्रचुर प्रभाव देखते हैं। भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद, मायावाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, आदि साहित्य के क्षेत्र में रसवाद, ध्वनिवाद आदि के नाम सुनते हैं, किन्तु समाज और राजनीति के क्षेत्र में अनेक वादों की चर्चा अधिक नहीं है। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि पूर्ववर्ती जनसाधारण इन वादों के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। अतः हमें प्राचीन युग में इनकी वैसी धूम नहीं दिखाई देती जसी आजकल है। किन्तु इसका यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं कि आज के इन वादों में कुछ ऐसी मौलिक खोज और कल्पनाएँ हैं जो हमें उस समय देखने को भी नहीं मिलतीं। समस्त भारतीय साहित्य में 'समाजवाद' आदि के तत्व किस रूप में मिलते हैं इस पर लिखने के लिए अधिक अवकाश की अपेक्षा है और इस प्रकार के कार्य को कोई बहुत बड़ा विद्वान् पुरुष ही कर सकता है। यहाँ पर मेरा उद्देश्य केवल यह संकेत कर देना है कि हमारे हिन्दी साहित्य में अतिशय प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में भी समाजवादी धारणाओं के मूलभूत तत्व ही नहीं, वरन् विकसित आदर्श विद्यमान मिलते हैं। साथ ही साथ मेरा यह भी विश्वास है कि इन आदर्शों पर आकर समाजवाद भारतीय विशेषता को अपनाता हुआ भी सुदृढ़ और स्थायी साम्य और विश्वप्रेम को विकसित करने में समर्थ हो सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास मर्यादावादी थे, किन्तु रूढ़िवादी नहीं। लोक-परंपरा और वेद के मंगलकारी नियमों को पालन करने में और प्रतिष्ठित गुरुजनों का अनुशासन मानने में वे मर्यादावादी थे और इस मर्यादावाद की अग्रहेलना आज भी हम नहीं कर सकते। किसी भी समाज के लिए उसके विकास और स्थिति के लिए आवश्यक नियमों का निर्वाह और गुरुजन तथा अधिकारी जनों की आज्ञा

का पालन आवश्यक है। अतः केवल इन बातों को देखकर ही हमें उनकी धारणाओं को हेय नहीं समझना चाहिए। हम आधुनिकता के आवेश में आकर जो प्राचीन हैं उस सभी के प्रति यदि दुर्भाव रखने लगें तो यह रूढ़िवादियों की हठधर्मी से किसी प्रकार कम नहीं। हमें सदा विवेक की दृष्टि रखनी चाहिए और जहाँ कहीं भी गुण मिल सकें उन्हें ग्रहण करना चाहिए। यों तो गुण-दोष संसार की सभी बातों के भीतर मिल ही जाते हैं। संसार में न तो कभी पूर्ण दोषहीन गुण की स्थिति रही है और न समस्त गुणहीन अवगुण ही की। इसी लिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि :—

जड़ चेतन गुणदोषभय, विश्व कीन्ह करतार ।

संत हंस गुण गहर्हि पय, परिहरि वारि विकार ॥

अतः आवश्यक यही है कि आँखें खोल कर नवीन में जो कुछ भी हितकर है उसे अपनावें और प्राचीन में भी जो हमें साधे हुए है और तथ्यपूर्ण है उसे ठुकरा न दें। साहित्य के संबंध में कही गई इसी प्रकार की उक्ति का अनुसरण हमारे लिए आवश्यक है। उक्ति यह है:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्षान्तरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

इसी प्रकार खुली दृष्टि और उदार चित्त से अपनी विवेक-बुद्धि के आधार पर ही किसी वस्तु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए।

आजकल प्रचलित शासनतंत्रों में प्रमुख राजतन्त्र, प्रजातंत्र, जनतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि हैं। इनमें राजसत्ता पर हमारा विश्वास उठ गया है। क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य-मनुष्य के भीतर भेद और विषमता की भावना विशेष तीव्र होती है। प्रजातन्त्र, राजतन्त्र की प्रतिक्रिया है किन्तु उसका कोई स्थान नहीं, क्योंकि प्रजा शब्द राजा शब्द के साथ ही संबंधित है। जो राजा नहीं, तो प्रजा रूढ़ि अर्थ में नहीं चल सकता अन्य अर्थों जैसे संतान, पुत्र आदि में चाहे चले। जनतन्त्रों के अन्तर्गत ही आज के शासन-विधानों का आधार है, इनमें से किसी में प्रत्येक के राजनीतिक और सामाजिक स्थिति के साम्य पर जोर दिया जाता है और कहीं नहीं। यही दशा अधिक साम्य की है किन्तु इसको मानने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि धीरे-धीरे हम मनुष्यमात्र को समान समझने की सुदृढ़ नींव डालने का प्रयत्न कर रहे हैं और इस दिशा में सबसे बड़ा कार्य 'समाजवाद' का है।

समाजवाद का विस्तृत विवेचन भी यहाँ पर मेरा अभिप्राय नहीं, किन्तु तुलसी की समाजवादी धारणा और उसके राज्यादर्श में व्याप्त इन तत्वों को

स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके भीतर आनेवाली आधारभूत बातों का उल्लेख कर दिया जाय । अतः इस संबंध में प्रमुख बातें ये हैं:—

(१) सभी व्यक्ति समान हैं । कोई किसी से घट-बढ़ कर नहीं, अतः सभी को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए ।

(२) प्रत्येक को अपनी योग्यता भर काम करना चाहिए ।

(३) प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिए ।

(४) जो काम न करेंगे, उन्हें खाना पाने का कोई अधिकार नहीं ।

(५) प्रत्येक का काम समाज के हित के लिए होना चाहिए ।

(६) सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं, वरन् समाज की है ।.....आदि आदि ।

इनमें से हम एक-एक पर विचार करेंगे ।

सबसे पहली बात है सबको समान समझना । तुलसी के रामचरितमानस में ही नहीं, धरन्, सन्त कवियों की लगभग सभी रचनाओं में समानता का भाव विद्यमान है । मनुष्य-मनुष्य में भेद समझना, यह भारतीय दृष्टि से मूर्खता है । गीता का स्वयं कथन है :—

“शुनि चैव श्वपाके च पंडितः समदर्शिनः”

पंडित की दृष्टि में भेदभाव नहीं होना चाहिए । तुलसी के रामचरितमानस में वर्णित रामराज्य के अन्तर्गत यही भेदभाव हीनता ही नहीं द्वेषभाव हीनता तक विद्यमान है । तुलसी कहते हैं :—

“रामराज बंठे त्रैलोका । हरषित भये गये सब सोका ।

बैर न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥”

कोई किसी से बैर नहीं करता, क्योंकि बैर करने का प्रधान कारण विषमता है भी नहीं । साथ ही साथ हृदय के भीतर भी विकार नहीं जो अकारण ही द्वेष का बीज बो सकता है ।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति योग्यता के अनुसार काम करे । यह बात भी रामराज्य में है और इतनी ही नहीं इससे भी आगे कि सभी पुण्यकार्य अर्थात् लोक-कल्याण के कार्य करते हैं सभी गुणवान् और पंडित हैं । कोई मूर्ख और आलसी नहीं, देखिये :—

सब नर करहि परस्पर प्रीती । चरहि स्वधर्म मिरत श्रुति नीती ।

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहि कोउ अबुध न लच्छन होना ।

सब निर्वभ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ।

सब पण्डित सब पूरन जानी । सब कृतग्य नहि कपट सयानी ।

इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक स्थिति में सभी समान हैं और सभी कर्मण्य

हैं। जब उनमें अच्छे लक्षण हैं तो वे आलसी या कामचोर नहीं हो सकते। साथ ही साथ इसी बात की पुष्टि गीतावली के भी एक पद से होती है :—

बनते आइ के राजा राम भये भुआल ।
मुदित चौबह भुवन, सब सुख सुखी सब सब काल ।
मिटे कलुस कलेस कुलधन, कपट कुपथ कुचाल ।
गये दारिद दोष दारुन, दंभ दुरित दुकाल ।
कामधुक महि कामतर तर, उपल भनिगन लाल ।
नारि नर लेहि समय सुकृती, भरे भाग सुभाल ॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि सभी सुकृती अर्थात् अच्छे कर्म करनेवाले थे। अतः योग्यतानुसार कर्म करना, तो निश्चित ही है। साथ ही ये कार्य उनके व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित न होकर समाज और लोक की कल्याण-भावना से युक्त थे। इसका प्रमाण ऊपर आये 'सुकृती' शब्द से भी मिलता है। और नीचे की पंक्तियों से भी :—

सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरनसेवक नर नारी।
सब निर्बन्ध धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।

इससे यह पता लगता है कि उस समय के मनुष्यों के कार्यों का लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ न होकर समस्त समाज का कल्याण करना था और जब प्रत्येक के काम परोपकार और समूचे समाज के हित के हैं तब व्यक्तिगत संपत्ति का कोई महत्व नहीं है। कार्य, समाज हित के लिए है तो उसका परिणाम, संपत्ति भी समस्त समाज के उपयोग के लिए है ही। इस प्रकार हमें पाँचवीं और छठवीं बातों के प्रमाण मिल जाते हैं।

जो जितना करेगा उसे उतना ही मिलेगा और न करनेवाले को कुछ न मिलेगा, इस संबंध में विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि जहाँ पर सभी अच्छे कर्म करनेवाले हैं, वहाँ पर यह प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक को उसके कर्म के अनुरूप ही वस्तुएँ प्राप्त होंगी, यह बात न्याय पर निर्भर करती है और त्यागी एवं न्यायी अधिकारियों के होने पर ही चल सकती है। राम जैसे न्यायप्रिय और त्यागी के राज्य में इसमें कोई कमी नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त इन बातों से संबंधित प्रश्न तब उठता है जब देश गरीब और निर्धन हो। यदि देश पूर्ण समृद्ध और सम्पत्तिशाली है तो वस्तु की कमी किसी को नहीं रहती। साथ ही एक बात और होती है कि मनुष्य इन दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल उत्पादन में व्यस्त न रह कर अपने बौद्धिक

अथवा आत्मिक विकास के कार्य करता है। राम राज्य में देश समृद्ध और वैभवशाली है इसका वर्णन देखिये :—

फूलहि फरहि सदा तरु कानन, रहहि एक संग गज पंचानन ।

लता विटप मांगे नय चुवहीं, मनभावतो धेनु पय खवहीं ।

ससि सम्पन्न सदा रह धरनी, त्रेता भइ कृतयुग की करनी ।

प्रकटी गिरिन्ह विविध मनि खानी, जगदातमा भूप जग जानी ।

सागर निज मरजादा रहहीं, डारहि रत्न तटन्हि नर लहहीं ।

यह तो सर्वजनसुलभ भरण-पोषण और अलंकरण के उपयोग की वस्तुएँ थीं। जिन्हें यथावश्यक रूप में सभी प्राप्त करते थे। साथ ही साथ अयोध्या के निवासियों की संपत्ति-वैभव का दृश्य भी बड़ा आकर्षक है। तुलसी ने लिखा है :—

बहु मनि रचित भरोखा आजहि, गृह गृह प्रति मनि दीप विराजहि ।

मनि दीप राजहि भवन आजहि देहरी विष्णु रची ।

मनि खंभ भीति विरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची ॥

सुन्दर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे ।

प्रति द्वार द्वार फपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्ह खचे ॥

यह जनसमृद्धि का दृश्य है। रामराज्य की जनता को आवश्यकतानुसार सभी वस्तुएँ सुलभ थीं। वस्तु सुलभता प्रकृति और मानव समाज दोनों के द्वारा संपादित होती थी। प्रकृति के क्षेत्र में आवश्यक वस्तुएँ फल-फूल अन्नादि सुलभ थे, इसका संकेत ऊपर मिल चुका है। साथ ही साथ इन वस्तुओं के उत्पादन में सहायक तत्व भी नियमित और अनुकूल थे। देखिये तुलसी कहते हैं :—

विधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतर्नाहि काज ।

मांगे बारिद देहि जल, रामचन्द्र के राज ॥

इस प्रकार सभी लोग सब प्रकार से सुखी थे। यही रामराज की विशेषता थी। इससे बढ़कर और समानता क्या हो सकती है और समाज के संपत्ति पर अधिकार का प्रमाण और क्या हो सकता है कि बाजार में प्रत्येक को आवश्यकतानुसार वस्तु मिल सकती थी, उसके लिए मूल्य चुकाना आवश्यक न था।

बाजार रुचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइये ।

जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये ॥

आजकल हमारे देश के असंख्य व्यक्तियों को कुछ विदेशी शासन-प्रणाली में बड़ा आकर्षण है कि वहाँ लोगों को बिना दाम दिये मुफ्त चीजें मिल

जाती हैं पर अपनी प्राचीन व्यवस्था में भी ऐसी बात थी। आजकल ही देश की निर्धनता के कारण यह बात है, अन्यथा रुपये-पैसे और मूल्य चुकाने की बात हमारी गाँव-व्यवस्था में अधिक महत्त्व न रखती थी। वहाँ पर तो यदि एक की आवश्यकता से अधिक वस्तु है तो उसे लोगों को बाँट देना, परम्परागत नियमों के अन्तर्गत रहा है। यह तो आज के अभाव के कारण ही है कि इतनी अधिक लोलुपता बढ़ गई है।

राम राज्य के अन्तर्गत कार्य का महत्त्व था। इस पर पहल कहा जा चुका है, किन्तु इस प्रसंग में इतना और कहना है कि चाहे कोई कितना ही बड़ा पद का हो वह भी कार्य करता था, इसका भी प्रमाण हमें मिलता है। सीता को सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। जनेच्छा द्वारा, एवं नियमतः उनके पास सेवक और दासियाँ थीं फिर भी वे अपना और घर का काम स्वयं करती थीं। देखिये :—

यद्यपि गृह सेवक सेवकिनी । विपुल सदा सेवा विधि गुनी ।

निज कर गृह परिचरजा करई । रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥

इस प्रकार समान स्थिति, समान योग्यतानुसार कार्य और सम्पत्ति-विभाजन आदि समाजवादी धारणा की प्रमुख बातें हमें तुलसी के सामाजिक आदर्श में देखने को मिल जाती हैं। और हम कह सकते हैं कि तुलसी की समाज-सम्बन्धी धारणा बड़ी गहरी नींव पर रखी हुई थी। वास्तव में यदि हम विचार कर देखें तो कह सकते हैं कि तुलसी मानव-जीवन की सामाजिक व्यवस्था पर ही आस्था रखनेवाले व्यक्ति थे। राजकीय व्यवस्था पर उनका उतना विश्वास न था जितना सामाजिक व्यवस्था पर। तुलसी के राजा राम भी प्रारम्भ से अंत तक समाज और उसकी एक छोटी इकाई परिवार के पुरुष हैं, प्रजा के राजा नहीं। दशरथ भी अपनी प्रबल इच्छा राम को राज्य देने की होते हुए भी सब की सम्मति के अनुसार ही काम करते हैं :—

जो पाँचे मत लागे नीका । देउ हरषि हिय रामहि टीका ।

इससे यह प्रकट है कि यदि सब का मत न हो तो राम को राज न दिया जाये और किसी दूसरे को भी दिया जा सकता था। इस प्रकार से उस समय की सामाजिक व्यवस्था मूलरूप से पंचायत या जन्मत पर आधारित थी ; मनमानी और स्वेच्छा पर नहीं।

ऐसा इसीलिए संभव था कि उस समय व्यक्ति के भीतर त्याग की प्रबल भावना थी। लोलुपता और धनमद न था और विशेष रूप से दशरथ, राम, भरत जैसे व्यक्तियों में। राज्य तक ठुकराया और त्यागा जा सकता है। तो अन्य वस्तुएँ तो बहुत ही साधारण हैं। हम के हृदय में यह त्याग-भावना

प्रारम्भ से ही विद्यमान थी । जिस समय राज्याभिषेक की बात ही चली थी उसी समय उनके हृदय में बिन्दा और मन में तर्क उपस्थित हुआ था कि :—

जनमें एक संम सख भाई । भोजन सयन कैलि लरिकाई ।

विमल वंश यह अनुचित एक । बंधु बिहाय बड़ेहु अभिषेक ॥

यह तर्क-वितर्क मन में त्याग और समानता के भाव के कारण ही उपस्थित हुआ था, अन्यथा इस प्रकार का वैभव मिलने पर ऐसा तर्क तो दूर रहा और ऊपर से उसे समग्र हड़प कर जाने के लिए षड्यंत्र और हथियारों तक होती हैं । इससे हमें उस समय की सामाजिक चेतना से युक्त दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है ।

आजकल हम समान आर्थिक आधार और राजनीतिक अधिकार सुलभ करके मनुष्य समाज में समता लाना चाहते हैं, इसके भीतर समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं किन्तु, केवल बाह्याधार की ही समानता से चिरस्थायी समत्व कायम नहीं किया जा सकता । इसके भीतर आन्तरिक साम्य की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है और रूसो, कार्लमार्क्स, लेनिन आदि महात्मा विचारकों के द्वारा प्रतिष्ठित यूरोपीय साम्य या समाज-भावना के साथ-साथ भारतीय आधार और दृष्टिकोण भी पूर्णतः अपेक्षित है । इसी आधार की प्राप्ति के लिए पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के भक्तों और सन्तों ने आन्दोलन चलाया था । उनके भीतर आत्मसंयम, साधना और सबके प्रति समान प्रभाव प्रमुख रीति से विद्यमान थे, जो मनुष्य-मनुष्य में समानता का भाव स्थापित करके समस्त मानव-समाज की सेवा का उपदेश देते थे । किन्तु, उन्होंने भी आन्तरिक साम्य वास्तविक ऐक्य, द्वैतबुद्धिहीनता को प्राप्त करने के लिए, सर्वान्तर्यामी ईश्वर की अनुभूति करने की बड़ी आवश्यकता समझी थी । जब हम यह समझते हैं कि एक सर्वशक्तिमान ज्योति या चेतनशक्ति सबके भीतर व्याप्त है, तब हम यथार्थ में सबको समान समझते हैं और ध्यान रखते हैं कि किसी व्यक्ति का अपमान करना उस शक्ति का अपमान है, जो उसके भीतर भी है । अतः कबीर ने सामाजिक शिष्ट व्यवहार की जागृति के लिए कहा था कि :—

घट घट में रह साईं रमता ।

कटुक वचन मत बोल रे ॥

अतः यदि हम व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना की बात छोड़ दें तो भी सामाजिक एकता के लिए ईश्वर की आवश्यकता है । ईश्वर का सामाजिक महत्व है । यदि इस प्रकार सर्वत्र ईश्वर की व्याप्ति का अनुभव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को हो जाय तो स्थायी सामाजिक समानता स्थापित हो सकती है ।

है। संतों और भक्तों की दृष्टि तो विश्वप्रेम से पूर्ण थी और वे उस ईश्वर का अस्तित्व चेतनों में नहीं, जड़ के भीतर भी करते थे। तुलसी ने इस प्रकार हमारे आन्तरिक मामजस्य को प्रेरित करते हुए लिखा है :—

जड़ चेतन जग जोव जत, सकल राममय जानि ।

बन्दहुँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥

हम कह सकते हैं कि इन संतों और भक्तों ने अपने अत्यन्त ऊँचे आदर्श और गहरी साम्यभावना के आधार पर इतनी लम्बी दासता के बीच भी हमारे चरित्र-गुणों और संस्कृति की रक्षा की है। और आज भी हमें मार्ग दिखा रहे हैं।

इन बातों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय समाज की रचना, समान आर्थिक आधार और राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ आध्यात्मिक एकता के आधार पर होनी चाहिए। इसके बिना होगा यही कि जब तक चरित्रवान अधिकारी हमारे इस आधार का लेकर चलते हैं, तभी तक यह साम्य रह सकेगा और हमारे देशगत, जातिगत, वर्णगत स्वार्थों और संकीर्ण विचारों के सामने वास्तविक विश्वप्रेम विकसित नहीं हो पायेगा। हम अपने विचारों को दूसरों पर आरोपित करने के लिए न जाने कितनों की हत्या कर देते हैं, जिसका दुष्परिणाम यही होता है कि विरोधी दलों के भीतर इस स्थायी मानवप्रेम और विश्व प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि राम ने भी रावण का संहार किया, वह क्यों? तो इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि वहाँ निविशेषतः शत्रु का संहार नहीं वरन्, मानव-जाति के पीड़क और नाशक रावणादि राक्षसों का ही है जिनका जीवन दूसरों के नाश पर निर्भर करता है। विभीषण आदि के प्रति उनका द्वेष-भाव नहीं।

यथार्थ में कोई भी तत्र या व्यवस्था क्यों न हो, यदि उसके भीतर आन्तरिक चेतना, सचाई, ईमानदारी, सहृदयता को जाग्रत करनेवाला कोई तथ्य विद्यमान है तब तो कार्य चल सकता है, अन्यथा नहीं। इसी की पूर्ति के हेतु उन्होंने वर्णाश्रम धर्म पालन का इतना महत्व समझा था। यह वर्णाश्रम धर्म सामाजिक साम्य के आधार पर था, कोई किसी से घट-बढ़ कर है, इस भावना पर नहीं। वर्ण-व्यवस्था, अनिश्चित रूप में सभी देशों में है और वह जन्म से नहीं, कर्म से हानी चाहिए, यह हमें आज भी अमान्य नहीं है किन्तु आज वह इतनी विकृत हो गई है कि हम उन शब्दों का नाम तक भी लेना ठीक नहीं समझते, किन्तु बिना नाम दिये हुए भी सामाजिक कार्य करनेवालों के विभिन्न

वर्ग ही इसके भीतर है। बुद्धिजीवी, सैनिक, व्यापारी और समाजसेवक आदि आज भी हैं। आश्रम-व्यवस्था हमारी जनसंख्या और स्वास्थ्य को ठीक और संतुलित रखने के लिए आवश्यक है। साथ ही साथ संपत्ति और वैभव के प्रति त्याग-भावना जगाने के लिए भी अपेक्षित है। अन्यथा वृद्धावस्था में भी अधिकार-लोभपता और संपत्ति जोड़ने का मोह नहीं छूटता और जिसके परिणामस्वरूप नवयुवक समुदाय का भी पतन होना है। अतः वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी न किसी रूप में हमारे समाज के लिए उपयोगी है ही। उसमें आवश्यक परिवर्तन अपेक्षित है।

तुलसी के समाजवाद के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति व्यवहार का शिष्ट, त्यागपूर्ण, मधुर आदर्श आदर्श होना आवश्यक है और इस संबंध में राम और भरत का चरित अनुकरणीय है। राजा भी समाज का उसी प्रकार एक सदस्य है जैसे पिता-पुत्र परिवार के और इसी प्रकार समाज के। किन्तु पिता-पुत्र के संबंध की अपेक्षा राजा-प्रजा का संबंध क्षीण और क्षणभंगुर है, प्रजा अपने अधिकार से उसे हटा सकती है। अतः राजा को भी समाज के सदस्य-रूप में अपना कर्तव्य निभाना है। इसीलिए राजा के लिए पुत्रवत् प्रजापालन का आदर्श सामने रख कर केवल अधिकार द्वारा संबंध-सूत्र को न जोड़कर स्नेह द्वारा उसको जोड़ दिया है। गुणों से हीन व्यक्ति अपने को उच्च नहीं समझता, वरन्, बराबर समझता है; जो उसकी शिष्टता और स्नेह भावना का द्योतक है। वसिष्ठ को निषाद दूर से प्रणाम करता है पर वसिष्ठ उसे बरबस गले लगा लेते हैं:-

बरबस राम सखहि इमि भेंटा । जिमि महि लुठत सनेह समेटा ।

‘महि लुठत सनेह’ समेटने में वसिष्ठ की स्नेहपूर्ण तत्परता और शीघ्रता स्पष्ट होती है।

इस प्रकार तुलसी के समाज का आदर्श यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए कार्य न करके सामाजिक नियम और मर्यादा-पालन के लिए कार्य करता है। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज का आदर्श संघटन भी रहता है और व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण प्रयत्न किये बिना ही सभी लोग, संपत्तिवान, प्रसन्न और सुखी रहते हैं। यह संक्षेप में तुलसी के समाजवाद के आदर्शों और परिणामों, नियमों और व्यवहारों का निर्देश हुआ। तुलसी के सामाजिक आदर्शों की समस्त कल्पना, चाहे हमें आज की परिस्थिति में पूर्ण रीति से मान्य न हो, किन्तु इतना हमें स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उनके आदर्शों में आधुनिक ‘समाजवाद’ के बीज तत्व विद्यमान हैं और भारतीय प्रकृति के अनुकूल उसके संकेत और तत्व आज भी हमारे समाज-निर्माण में अत्यधिक सहायक हो सकते हैं।

हिन्दी काव्य में भक्ति-भावना

हिन्दी काव्य पर व्यापक दृष्टिपात करने पर हमें विदित होता है कि पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की प्रधान प्रवृत्ति भक्ति-पर्या है। हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों में तुलसी, सूर आदि ने भक्ति की प्रेरणा से ही काव्य-रचना की है, इनके अतिरिक्त अन्य कवियों में भी भक्ति-भावना प्रधान रूप से काम करती है। प्रारम्भिक देवस्तुति से लेकर अन्त के समर्पण तक कहीं न कहीं भक्ति-भावना फूट निकलती है और हम प्रमुख शृंगारी बिहारी की 'मेरी भव बाधा हरो', तथा वीररस के प्रधान लेखक भूषण के 'विकट अपार भवपन्थ के चले कां श्रम हरन करन विजना से ब्रह्म ध्याइये' के साथ-साथ 'दाम' ऐसे काव्यशास्त्र और नायिकाभेद पर लिखनेवाले कवियों के मुख से "आगे के कवि रींभिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई मुमिरन को बहानो है" के समान भक्ति-सूचक उदगार देखते हैं। पृथ्वीराज रासो के समय की वीर गाथाओं और रीतिकालीन शृंगारी कविताओं—सभी के अन्तर्गत भक्ति की प्रवृत्ति मिलती है। विद्यापति का शृंगार राधाकृष्ण के लिए है। देव भी 'राधा वर विरद के वारिधि' में अपने विजयोन्मुख मन को बोरने के लिए तैयार है। रीतिकालीन कवियों ने पूरी सचाई के साथ न सही—सहारे के लिए ही चाहे क्यों न हो,—भक्ति-भावना का आश्रय लिया है। नायिकाभेद तक में कृष्ण और राधा ही नायक-नायिका हैं। किसी भी प्रसिद्ध कवि को लें, तो हम यही पायेंगे कि उसकी रचना का अधिकांश, भक्ति-पर्या है। अतः हम कह सकते हैं कि भक्ति-भावना हिन्दी काव्य की एक निजी विशेषता है। भक्ति के प्रवाह में काव्य की जो स्रोतिनी उमड़ी है, उसका काव्यात्मक लालित्य और कलात्मक सौन्दर्य भी स्वाभाविक प्रेरणा के समान ही उच्च और व्यापक है। उसके लौकिक और अलौकिक दोनों पुलिनों की हरी-भरी शोभा विश्व को रमणीयता का आदर्श प्रदान करती है। भक्ति की एक प्रमुख विशेषता अनन्य आसक्ति, है *

भक्त के सामने उसका आराध्य उसके भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी नहीं ठहरता; सभी तुच्छ हैं, सभी नीचे हैं। अतः भक्ति की धर्म के रूप में सीमित परिभाषा को न लेकर यदि हम व्यापक दृष्टि से हिन्दी काव्य पर विचार करें तो भक्ति अनन्य आसक्ति के रूप में हिन्दी कविता की एक प्रधान प्रवृत्ति ज्ञात होती है, जिसको वह अब भी नहीं छोड़ पाई है। हिन्दी कविता में इस आसक्ति के दो स्वरूप देखने को मिलते हैं:—लौकिक और अलौकिक। लौकिक आसक्ति को हम राजाओं और आश्रयदाताओं के गुणगान या सांसारिक नायक-नायिकाओं के वर्णन के अन्तर्गत देख सकते हैं। अलौकिक अनुरक्ति या भक्ति को हम ईश्वर या ईश्वरावतारों के वर्णन, देवी-देवताओं की स्तुति, उनके भाव तथा गुणों के वर्णन के अन्तर्गत पाते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो आसक्ति और तन्मयता का गुण रखनेवाली अनुरक्ति ही कविता की यथार्थ प्रेरणा है। कवि अपने विषय में तन्मय हो जाता है, तभी उसका सारा सौन्दर्य तथा उसके सम्पूर्ण गुणों को हमारे सामने लाकर रख देता है। हिन्दी काव्य में भक्ति-भावना प्रमुख है, इसका एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि हिन्दी में शृंगार, वीर और करुण रसों की ही प्रधानता है और हास्यादि का शोचनीय अभाव है, क्योंकि पूर्वोक्त रस अनुरक्ति से संबंध रखते हैं।

वीरगाथा और रीतिकाल की कविता अधिकांश लौकिक प्रशंसा या अनुरक्ति से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत अधिकतर प्रशंसात्मक काव्य आता है। वीरकाल और रीतिकाल के ग्रंथों में हम इसका पूरा विवरण पाते हैं। इन ग्रंथों का काव्य के अतिरिक्त इतिहास के दृष्टिकोण से भी बड़ा महत्व रहता है। पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज तथा अन्य वीरों की प्रशंसा, आल्हा में आल्हा और ऊदल की अतिशयोक्तिपूर्ण वीरता के विवरणों तथा बीसलदेव रासो में विग्रहराज, शिवराजभूषण और शिवाबावनी में शिवाजी, ललित ललाम में वृन्दीनरेश भाउसिंह, छत्रसाल प्रकाश में छत्रसाल, हिम्मतबहादुर विरदावली में हिम्मतबहादुर आदि के वर्णनों में लौकिक अनुरक्ति के उदाहरण मिलते हैं। राजाओं और वीरों को दैवी और अलौकिक पुरुषों के रूप में मानकर उनकी प्रशंसा की गई है। यदि इन काव्यों की रचना की मूल प्रेरणा को देखें तो वही आसक्तिमयी रोझने की भावना है, जो कि ईश्वर या देवताओं की ओर उन्मुख न रहकर गुण और वीरतासम्पन्न राजाओं की ओर प्रवृत्त हुई है।

अलौकिक अनुरक्ति या भक्ति का स्वरूप और भी व्यापक है। सामान्यतया हिन्दी काव्य में उसके तीन स्वरूप देखने को मिलते हैं:—प्रथम रूप की आसक्ति, द्वितीय गुण की और तृतीय गुणी रूप की भक्ति के इन तीनों

स्वरूपों में हिन्दी काव्य का सभी सौन्दर्य निखर आया है। रूप की भक्ति के व्यापक रूप से दो पक्ष दिखलाई देते हैं। एक तो प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण का और दूसरे नखशिख। ये दोनों जहाँ पर लौकिक भावनाओं को जगाते हैं वहाँ तक लौकिक अनुरक्ति के अन्तर्गत है, जैसे बारहमासा और षट्श्रुत वर्णन तथा नायिका भेद के उदाहरणार्थ प्रकृति वर्णन का छन्द देखिये :—

“कारे लाल करहे पलासन के कुंज तिन्हें,
अपने भूकोरन भुलावन लगी है री।
ताही की समेटी तून पत्रन लपेटी धरा-धाम,
ते अकाश धूरि धावन लगी है री।
‘ठाकुर’ कहत सुचि सौरभ प्रकासन में,
आछी, भाँति रुचि उपजावनि लगी है री।
तातो सोरी बेहर वियोग वा संयोगवारी,
आवनि बसंत की जनावनि लगी है री।* ”

किन्तु जहाँ पर प्रकृति का वर्णन हमारे हृदय को शान्ति, आनन्द और सन्तोष से भर देता है, जिससे मन की अनेक भावनाओं की परिष्कृति होती है, वहाँ पर वह अलौकिक रूप भक्ति के उद्दीपन के अन्तर्गत ही कहा जायेगा — जैसे—गीतावली का चित्रकूट वर्णन तथा नीचे लिखे पद्य :—

“सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन हूँ जात अजौँ वहँ, वा जमुना के तीर।† ”

नीचे के पद्यों में प्रकृति के रूप की ओर आसक्ति का भाव प्रगट हुआ है:—

सेनापति उनये नये जलब सावन के,
चारिहु दिसान घुमरत भरे तोड़ के।
सोभा सरसाने न बखाने जात काहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोड़ के।
धन सौ गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत गयो मानों रवि खोड़ के।

* हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५२।

† बिहारी रत्नाकर दोहा ६८१।

चारि मास भरि घोर निसा को भरम मानि ,
मोरे जानि याही ते रहत हरि सोइ कै ॥*

इसी प्रकार :—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति ,
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं ।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन ,
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं ।
उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही ,
राम कैसो जस अध उरध गगन हैं ।
तिमिर हरन भयो सेत हैं बरन सब ,
मानहु जगत छीरसागर मगन है ॥†

हिन्दी में स्वच्छन्द रूप से प्रकृति-वर्णन अधिक नहीं हुआ है ; फिर भी जो कुछ है उसमें सौन्दर्य वर्णन मनोहारी है ।

इस रूप-भक्ति का दूसरा पक्ष नखशिख-वर्णन में स्पष्ट होता है । प्रकृति-वर्णन के उपरान्त यह मानव-स्वरूप का वर्णन है, जिस पर सौन्दर्य या रूप का उपासक रीझता है । हिन्दी काव्य के प्रारम्भ से ही नखशिख-वर्णन कविता का प्रमुख अंग रहा है और सदा रहेगा । वर्तमान हिन्दी काव्य में भी पूरा चित्र खींचने के लिए नखशिख-वर्णन आवश्यक है । शिर से लेकर पैर तक के अंगों और आभूषणों का सौन्दर्य-वर्णन इसके अन्तर्गत आ जाता है । रीतिकाल में नखशिख-वर्णन का प्रधान स्थान रहा ; किन्तु इसमें नायिकाओं का वर्णन था अतः यह लौकिक रूप-वर्णन के अन्तर्गत आता है । जैसे कि मतिराम का नीचे लिखा नायिका-वर्णन—

“ कुंदन को रँग फीको लगै, भलकै अस अंगन चारु गोराई ।
आँखिन में अलसानि चितौनि में, मंजु बिलासन की मधुराई ।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लखे अँखियान लुनाई ।
ज्यों ज्यों निहारिए नीरे हूँ नैननि त्यों त्यों खरी निकसै हूँ निकाई ।”‡
किन्तु जहाँ पर वर्णन, आराध्य देव के रूप में होता है जिसका व्यक्तित्व

* सेनापति का कवित्त रत्नाकर

† “ ” ” ”

‡ मतिराम का रसराम, ६

अलौकिक और दैवी है, वहाँ पर हमें अलौकिक रूपासक्ति या रूपभक्ति के दर्शन होते हैं। कृष्ण और राधा, राम और सीता के नखशिख-वर्णन से हिन्दो काव्य भरा पड़ा है— बिहारी के मन में बसनेवाला कृष्ण का रूप देखिये:—

“सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।

एहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥”

इसी प्रकार :—

“जटा मुकुट शिर करधनु, संग मरीच ।

चितवनि बसति कनखियनु, अखियनु बीच ।”

तुलसी के द्वारा राम और सीता का नखशिख रामचरितमानस, गीतावली, विनयपत्रिका आदि ग्रंथों में बड़ा ही मनोग्राही है। अष्टछाप के भक्त कवियों ने कृष्ण और राधा के सुन्दर नखशिख वर्णन किये हैं। कृष्णदास लिखते हैं—

“मो मन गिरधर छवि पें अटक्यो

ललित त्रिभंग भाव पें चलिकै, चिबुक चारु गड़ि हटक्यो ।

सजल श्याम घन वरन लीन है, फिर चित अनत न भटक्यो ।

कृष्णदास कियो प्रान निछावरि, यह तब जग सिर पटक्यो ॥”

सूर कृष्ण की बालछवि का वर्णन करते हैं :—

“हरि जूकी बाल छवि कहौ बरनि ।

सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभाहरनि ।

भुज भुजंग सरोज नयननि बदन विधु जित्यो लरनि ॥

रहे बिबरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरी डरनि ।

मंजु मेचक मृदुल छवि अनुहरति भूषन-भरनि ।

मनो सुभग सिंगार सिमु तरु फरयो अद्भुत फरनि ।

लसत कर प्रतिबिम्ब मनि आंगन घुटुरुवन चरनि ।

जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि ॥

पुण्य फल अनुभवति सुतांह विलोकि कै नंदधरनि ॥

सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि ॥”

इसी भाँति हितहरिवंश का राधा की नखशिख छवि का वर्णन देखिये :—

‘ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुटमनि श्यामा आजु बनी ।

नखशिख लौं अँग-अंग माधुरी मोहे श्याम धनी ।

यों राजत कवरी गूथित कच कनक-कंज वदनी ।

चिकुर चंद्रिकन बीच अधर विधु मानों प्रसित फनी ॥”

सोभग रस सिर लवत पनारी बिच सीमंत ठनी ।
 भ्रकुटि स्याम कोदंड, नैन सर, कज्जल रेख अनी ।
 भाल तिलक ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी ।
 दसन कुंद सरसाधर पल्लव पीतम मन समनी ।
 हित हरिवंस प्रसंसित स्यामा कीरति विसद घनी ।
 गावत श्रवननि मुनत सुखाकर, विश्व दुरित दवनी ॥”

इस प्रकार के वर्णन हिन्दी काव्य में प्रचुरमात्रा में विद्यमान हैं और उनमें छविवर्णन तथा रूप-भक्ति की भावना देखने में मिलती है, किन्तु एक बात जो इन वर्णनों में खटकती है वह है वर्णन के लिए आये उपमानों का परम्परागत प्रयोग । उन्हीं प्रसिद्ध उपमानों के साथ बार-बार वर्णन में वस्तु का सौन्दर्य घट जाता है । आंखों का कमल, खंजन, मीन से, भौहों का धनुष से, नाक का शुक की चोंच से, ग्रीवा का हंस, शंख या मोर की ग्रीवा से बार-बार सादृश्य दिखाना वर्णन को निर्जीव कर देता है । फिर भी नखशिख छवि की परम्परा दृढ़ मूलवाली बनी रही ।

यथार्थ में रूप भक्ति के अन्तर्गत लौकिक और अलौकिक का भेद कोई विशेष विभिन्नता उपस्थित नहीं कर सका, क्योंकि देवता या अवतार का रूप-वर्णन भी मानवाकार में ही किया गया । अतः धीरे-धीरे राधा और कृष्ण को लेकर सामान्य नायिकाओं एवं नायकों की नखशिख-छवि का वर्णन हुआ । परन्तु अलौकिक भक्ति-भावना के अन्य दो स्वरूपों अर्थात् गुण की भक्ति एवं सगुण रूप की भक्ति में भक्ति की धार्मिक भावना ही विशुद्ध रूप में व्याप्त रही । उनमें शुद्ध भक्ति-भावना ही ओतप्रोत है । निर्गुण उपासकों में गुणों की भक्ति के अन्तर्गत आकार की सत्ता नहीं मानी गई । निर्गुण उपासना के अन्तर्गत निराकारता विशेष रूप से है निर्गुणत्व नहीं है । वहाँ निर्गुण का तात्पर्य केवल यही जान पड़ता है कि परमात्मा प्रकृति के गुणों से बद्ध नहीं है । वह प्रकृति के तीन गुण सत्, रज और तम से परे है; किन्तु गुणों के प्रचलित अर्थ में वह गुणों का भंडार है और उन्हीं अलौकिक गुणों वाले की भक्ति ही अलौकिक गुण की भक्ति के अन्तर्गत है । इससे भक्त ऐसे परमात्मा का, जो संसार की सभी बातों से परे है, गुणगान करता है और अपनी आत्मा को उसी अलौकिक और असीम शक्तिवाले परमात्मा से सम्बन्धित अनुभव कर अपनी अलौकिकता की ओर भी सचेत रहता है । वह अनंतगुणों वाला और असीम शक्ति-वाला है । इसलिए हमारी कल्पना या भावना किसी भी आकार या भाव में उसे बाँध नहीं सकती । किन्तु जहाँ पर भक्ति का प्रश्न आ जाता है वहाँ पर

गुणों का समावेश आवश्यक हो जाता है क्योंकि भक्ति के अन्तर्गत आसक्ति, लगाव और तन्मयता की भावना प्रधान होती है और इनके टिकने के हेतु—आधार और ठहराव के लिए—गुणों या रूप का आलम्बन होना आवश्यक है। हिन्दी कविता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि निर्गुण कहे जानेवाले भक्तों के भगवान् निर्गुण नहीं सगुण ही हैं, निराकार चाहे वे भले ही हों। अतः ये कवि निराकार और अरूप गुणों के उपासक हैं। हिन्दी काव्य के अन्तर्गत इस भावना ने भी प्रचुर विकास पाया है। कबीर, दादू, नानक, रैदास, पलटू, धना, पीपा, आदि सन्त इसी प्रकार की रचना करनेवाले कवि थे। उनकी उपासना परमात्मा के उस भाव के प्रति है जो कि अवर्णनीय और गुणातीत है। गुणाहीन नहीं, वर्ण है तो वह गुणों का भंडार, पर जो प्राकृतिक गुणों के बंधन में नहीं बाँधा जा सकता। अतः हम उसे अलौकिक गुणोंवाला कह कर इसे अलौकिक गुणों की भक्ति कह सकते हैं।

निर्गुणोपासक सन्त कवियों का प्रयत्न दो प्रकार का है। जब वे अपने परमात्मा का वर्णन करते हैं तब तो वे उसे गुणातीत बताते हैं और वे निर्गुणवादी हैं, किन्तु जब वे अपने को उससे सम्बन्धित करते हैं—उसका भक्त मानते हैं, तब वे उसके अनेक गुणों का वर्णन करते हैं। यथार्थ में उनकी वाणी काव्य वहीं है, जहाँ वे भक्त हैं। अतः वे केवल गुणों के भक्त हैं—आकारहीन, रूपहीन गुणों के भक्त—और अलौकिक गुणोंवाले की उपासना करते हैं। उस अरूप एवं आकारहीन के कुछ गुणों का वर्णन देखिये :—

“साहेब सों सब होत है, बन्दे से कछु नाहि ।

राई ते पर्वत करै, पर्वत राई माहि ।

जाको राखै साइयाँ, मारि न सकिहँ कोय ।

बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥ *

ऊपर की पंक्तियों में परमात्मा की ‘सर्वशक्तिमत्ता’ का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार उनके सर्वान्तर्यामी कोरूप देखिये। नानक कहते हैं :—

काहे रे बन खोजन जाई ।

सर्व निवासी सदा अलेपा तोही संग सदाई ।

पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर मध्य जस छाई ।

तैसे ही हरि बसै निरन्तर घट ही खोजो भाई ।

बाहर भीतर एकै जानौ यह गुरु ज्ञान बताई ।

जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें मिटे न भ्रम की काई । *

दादू का वर्णन भी उस निराकार परमात्मा के गुणों का दिग्दर्शन कराता है, उसकी सर्व व्यापकता नीचे के दोहों में प्रकट हुई है :—

घोव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर ।

'दादू' बकता बहुत हैं, मथि काढ़ें ते और ॥

'दादू' देख दयाल को सकल रहा भरपूर ।

रोम रोम में रमि रह्यौ, तू जिन जानें दूर ॥†

इसी भाँति रैदास उस निराकार परमात्मा के अनेक गुणों का वर्णन नीचे लिखे ढंग से करते हैं :—

“प्रभु जी तुम चंदन हम पानी । जाकी अंग अंग बास समानी ।

प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा । जैसे चितवत चंद चकोरा ।

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती । जाकी ज्योति जरै दिन राती ।

प्रभु जी तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सोहागा ।

प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भक्ति करे रैदासा ।” ‡

इसके अन्तर्गत व्यापकता, सुगन्धि, सरसता, तेज, आकर्षण, अधिकार आदि अनेक गुणोंवाले परमात्मा से भक्त यथोचित रूप में अपना संबन्ध स्थापित करना चाहता है । जब साधक भक्ति के आवेश में है, तब उसका आराध्य गुणों से युक्त है, वे गुण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चाहे लौकिक न हों, किन्तु बिना गुणों के आरोप के भक्ति नहीं हो सकती है । निर्गुण सन्तों में भक्ति-भावना की मात्रा उतनी ही है जितनी कि परमात्मा को गुणयुक्त मानकर उससे अपना हृदय का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आवश्यक है । हृदय के रीझने के लिए रूप या गुण दो में से एक अवश्य चाहिए । वरन् यथार्थता तो यह है कि दोनों ही चाहिए । कबीर 'शून्य मंडल' में परमात्मा की सत्ता का आभास पाते हैं, जिसका तात्पर्य दोहरा है । प्रथम तो यह कि वह गुणों से शून्य है, आकार से रहित है और दूसरे यह कि वहाँ पर अपना भी प्रवेश गुण इच्छाशून्य होकर ही हो सकता है । साधना-मार्ग के लिए यह ठीक है । परन्तु आनंद की अवस्था में वे उस शून्यमण्डल में मधुर ध्वनि

* कविता कौमुदी, भाग १

† कविताकौमुदी, भाग १

‡ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०५

सुनते हैं और ज्योति के दर्शन करते हैं। यह भक्त का स्वरूप है, जो गुरुओं का आधार लेकर ही चलता है :—

“सुन्य मंडल मन सुरति ते, प्रकट भई एक ज्योति ।

बलिहारी ता पुरुष छवि, निरालंब जो होति ॥”

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर ।

चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भोजै दास कबीर ।

इसी प्रकार :—

‘सुन्य मंडल में घर किया, बाजें सबद रसाल ।

रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीनदयाल ॥” *

इसी प्रकार जब भक्त दयालु और प्रेम से रीझनेवाले भगवान् को आत्म-समर्पण करता है तब भी परमात्मा को अनेक गुरुओं से युक्त मानता है। इसके साथ ही साथ निर्गुण साधक अनेक प्रकार के गुरुओं जैसे, समभाव, अनन्यता, विरह, प्रेम, सच्चाई, विश्वास, ज्ञान, दया आदि को प्राप्त करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे परमात्मा का सान्निध्य लाभ करता है। ये गुण स्वयं परमात्मा के हैं, अतः उसके पास जाने के लिए उसके समान ही होना आवश्यक है। इस प्रकार इस निर्गुण धारा के काव्य में रूप और आकारहीन गुणों की ही भक्ति है। यह भी हिन्दी काव्य का एक प्रधान अंग बन गई और आधुनिक काल की भक्तिपद्धति या ईश्वरप्रेम कुछ-कुछ निर्गुण उपासकों की भक्ति और प्रेम के समान ही है, जो आज कल की रहस्यवादी कविता के रूप में व्यक्त हुए हैं।

तीसरी साकार गुण की भक्ति, काव्य और भक्ति दोनों की दृष्टि से पूर्ण है। इसका विकास हिन्दी की सगुण काव्यधारा के अन्तर्गत हुआ है। निर्गुण भक्तों की भाँति इन्होंने भी परमात्मा को सर्व शक्तिमान, सर्वगुण—सम्पन्न माना है और यह भी स्वीकृत किया है कि उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है, किन्तु उनका विश्वास यह है कि परमात्मा भी जो सत्चित्प्रानन्दमय है अवतार धारण कर विशेष आकार ग्रहण करता है। इसका उद्देश्य भक्तों को आश्रय देना और उनके विश्वास को सुदृढ़ करना होता है। तुलसीदास राम को निर्गुण ब्रह्म मानते हैं; किन्तु वही निर्गुण राम अवतार ही लेते हैं :—

* कबीर बचनावली, पृष्ठ ७ साखी ६२

कबीर, (हजारीप्रसाद) पृष्ठ ३२४, पद २२३-२

“अगुनहि सगुनहि नहि कछ भेदा । गावहि मुनि पुरान बुध खेदा ।
अगुन अरूप, अलख अज जोई । भगत प्रेमबस सगुन सो होई । ”

और

‘जो गुनरहित सगुन सोई कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहि जैसे ॥

अगुन अरूप अमान एक रस । राम सगुन भये भगत प्रम बस ॥*’

अवतार, भक्त के सन्तोष के लिए होता है और यह परमात्मा के लिए एक लीला है । जैसे सृष्टि की रचना भी उसके लिए एक लीला है, वैसे ही अवतार लेना भी । परमात्मा का प्रत्येक अवतारी रूप किन्हीं ऐसे गुणों से विशेष रूप से सम्पन्न होता है जो कि भक्तों को अपनी ओर खींचते हैं । यद्यपि परमात्मा के अनेक अवतार माने गये हैं, परन्तु उनमें से दो—राम और कृष्ण—को ही हिन्दी के कवियों ने अपनी भक्ति का विषय बनाया है, राम अलौकिक शक्ति, अलौकिक सौंदर्य, मधुर स्वभाव, न्यायप्रियता, कर्तव्यशीलता आदि गुणों से सम्पन्न हैं अर्थात् उनके पास शारीरिक और चारित्रिक सौंदर्य तथा शक्ति दोनों विद्यमान हैं, किन्तु, कृष्ण के प्रति भक्तों की धारणा कुछ दूसरी है । राम, मर्यादापुरुषोत्तम है, आदर्शपुरुष हैं, पर कृष्ण के चरित्र को यथार्थ रूप में समझना कठिन है । कृष्ण अलौकिक सौंदर्यमय हैं और उनका सौंदर्य सबको प्रभावित करता है, किन्तु कृष्ण सर्वदा आनन्दमय है । उनमें अवतार रूप में भी अलौकिकता है । वह सामाजिक बन्धनों से परे हैं । सामाजिक नियमों के विचार से वह समाज के दोषी हैं । वह सदैव आनन्द-क्रीड़ाओं में संलग्न रहते हैं किन्तु वह अत्याचारियों, आततायियों को दंड देते हैं और भक्तों के लिए भगवान् हैं । ईश्वर की अलौकिकता के साथ-साथ मनुष्य के रूप में उनका अवतार है । राम और कृष्ण की भावना ने हिन्दी काव्य को बहुत अधिक समृद्ध बनाया है और इस प्रकार सगुण रूप का भक्ति-सम्बन्धी काव्य हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट काव्य है ।

इसका कारण है । सौंदर्य या रूप और गुण कविता की मूलभूत प्रेरणाएँ हैं । कवि, रूप और गुणों की ओर आकृष्ट होता है और उसकी तन्मयावस्था में काव्य का सुमधुर रूप निखरता है । इस धारा में काव्य की दोनों प्रधान प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं । इसके अन्तर्गत सुन्दरतम भाव सुन्दरतम रूप पा सके हैं, क्योंकि सुन्दरतम गुणों की सुन्दरतम रूप में उपासना इसका ध्येय है । इन सगुण रूप के उपासक भक्तों ने भी केवल रूप का वर्णन बहुत अधिक किया है । किन्तु उनके अधिकांश वर्णन के पीछे अपने उपास्य के गुणों का आधार गुप्त रहता है ।

अतः यह केवल बाह्य सौन्दर्य और शारीरिक रूप पर मोहनेवाले लोगों पर भी प्रभाव डालते हैं। वे अनुभव करते हैं कि यह आसक्ति एक विशेष प्रकार की है और लौकिक रूप-आसक्ति से भिन्नता रखती है। तुलसीदास ने इस प्रकार के रूप का प्रभाव अपनी रचनाओं में खूब दिखाया है। उदाहरणार्थ गीतावली के नीचे लिखे पद में देखिये—राम, सीता और लक्ष्मण वन को जाते हुए पथ के ग्रामनिवासियों पर क्या जादू डालते हैं, एक के मुँह से सुनिधे :—

“नीके कै मैं न विलोकन पाये ।

सखि यहि मग जुग पथिक मनोहर बधु विधुवदनि समेत सिधाये ।

नयन सरोज किसोर वयस बर सीस जटा रचि मुकुट बनाये ।

कटि मुनि बसन तून धनु सर कर, स्यामल गौर सुभाय सुहाये ।

सुन्दर वदन विसाल बाहुउर, तन छवि कोटि मनोज लजाये ।

चितवत मोहि लगी चौंधी सी जानों, न, कौन कहाँ ते आये ।

मनु गयो संग, सोच बस लोचन, मोचत वारि, कितौ समुझाये ।

तुलसिदास लालसा दरस की, सोइ पुरवै जेहि आनि दिखाये ।” *

जिन लोगों के ये उद्गार हैं, वे स्त्री और पुरुष प्रीड़ावस्था के हैं और विवाहित हैं अतः उनका यह मोह, रूप की अलौकिकता की ओर संकेत करता है। उनके लिए यह एक स्वप्न सा था। वे उनके चले जाने पर भी दुखी होते हैं और एक बार और दर्शन करने के लिए लालायित हैं। यह अलौकिक गुणसम्पन्न राम का वर्णन है जो इस रूप के जादू के मूल में काम करता है। तुलसी अपने नखशिख-रूपवर्णन के साथ-साथ गुण या शक्ति का आभास देना नहीं भूलते। राम की बालछवि का वर्णन शुद्ध रूपवर्णन है, फिर भी उसके पहले वे सचेत करते हैं। जिससे उनकी सगुण भक्ति और अवतार पर आस्था प्रकट होती है :—

“व्यापक, ब्रह्म, निरंजन, निर्गुन विगत विनोद ।

जो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या की गोद ॥”

(१६८ बालकांड)

इसके पश्चात् वे शारीरिक छवि का वर्णन करते हैं :—

“काम कोटि छवि स्याम सरीरा । नीलकंठ वारिद गंभीरा ॥

अरुन चरन पंकज नख ज्योती । कमल दलन्हि बंठे जनु मोती ॥

रेख कुलिस, ध्वज अंकुस सोहैं । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहैं ॥

कटि किकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गंभीर जान जेहि देखा ॥

भुज बिसाल भूषण जुत भूरी । हिय हरिनख अति सोभा रूरी ॥

उर मनिहार पदिक की सोभा । विप्रचरन देखत मन लोभा ॥

कंबुकंठ अति चिबुक सोहाई । आनन अभित मदन छवि छाई ॥

दुइ-दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥

सुंदर श्रवण सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥

चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ।

पीत भँगुलिया तन पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥” *

यहाँ तक तो कोरा रूपवर्णन है, किन्तु इसी को अलौकिकता के आवरण और असीम गुणों से अनुप्राणित कर देते हैं :—

“रूप सकाँह नहि कहि श्रुति-सेषा । सो जानहि सपनेहुँ जेहि देखा ।”

कृष्ण के रूप-वर्णन में भी यही बात है । रूप-वर्णन के अन्त में यद्यपि भक्ति की समर्पण-भावना कृष्ण-भक्तों की कविता में बराबर आती है ; किन्तु राम की भाँति वह चारित्रिक आदर्श के बल पर नहीं । कृष्ण के रूप-सौन्दर्य की अलौकिकता और भी अधिक है । उनके सामाजिक मर्यादा के विपरीत आचरण करते रहने पर भी गोकुल के नर-नारी उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हैं । इसका कारण एक तो अलौकिक रूप-सौन्दर्य का प्रभाव है, दूसरे उनके अलौकिक शक्ति और सौन्दर्य भरे कार्य हैं । कृष्ण के एक-एक कार्य चाहे समाज के लिए आदर्श भल ही न बन पावें, परन्तु, वे सबके मोहनेवाले अवश्य हैं । वे राम की भाँति अनुकरणीय चरित्रवाले नहीं हैं पर, वे विशिष्ट व्यक्तित्व वाले अवश्य हैं उनका एक-एक कार्य विलक्षण है और जादू का सा असर डालता है । इस अलौकिकता के गुण के साथ वह रूप है जिसके वर्णन की सामर्थ्य किसी की भी नहीं है, यही कृष्ण की अगाध भक्ति का रहस्य है । कृष्ण का सौन्दर्यमय छवियुक्त व्यक्तित्व इतना मनोहारी हुआ कि भक्ति-काल के बाद रीति-काल में भी उनको काव्य का आलम्बन बनाया गया । और राधाकृष्ण भक्ति के छन्द शृंगारी कवियों ने भी लिखे हैं :—

“मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।

जा तन की भाई परे, स्याम हरित छुति होय ॥” †

कविवर देव, कृष्ण की स्तुति करते हैं :—

* रामचरित मानस—बालकाण्ड

† बिहारी रत्नाकर—१

‘पायन नूपुर मंजु बजें , कटि किंकिन की धुनि की मधुराई ।
 साँवरे अंग लसे पट पीत, हिये हुलसे बनमाल सुहाई ।
 माथे किरोट बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई ।
 जे जग मन्दिर दीपक सुन्दर, श्री ब्रजदूलह देव सहाई ॥’ *

विनय के पदों में सूर और तुलसी दोनों ने गुणों का ही वर्णन किया है और उस गुणों के भंडार की ओर अपने मन को प्रेरित किया है । कृष्ण के रूप और गुणों को ब्रज के लोग उनके बालपन से ही जानते हैं । अतः उनको एक शिशु रूप से खिलाने, मन बहलाने में भी भक्ति का भाव ही प्रधान है । कृष्ण को भली-भाँति देखकर उन्हें अपनी गोद में लेकर अपने को कृतार्थ करने-वाली एक गोपी का कथन देखिये :—

‘नेकु गोपालहिं भोकों दै री ।
 देखौ कमल बदन नीके करि ता पाछे तू कनिया लै री ।
 अति कोमल कर चरन सरोरुह अधर दसन नासा सोहै री ।
 लटकन सीस कंठमणि आजत मन्मथ कोटि वारनै गं री ।
 बासर निसा बिचारति हौं सखि, यह मुख कबहुँ न पायो में री ।
 निगमन धन सनकादिक सरबसु, बड़े भाग पायो है तैं री ॥
 जाको रूप जगत के लोचन कोटि चंद्ररवि लाजत भैंरी ।
 सूरदास बलि जाउँ यशोदा गोपिन प्राण पूतना बेंरी ॥’ †

कृष्ण सुन्दरता और आनन्द के समुद्र हैं, इसी को लेकर कृष्णभक्ति काव्य का विकास हुआ है । कृष्ण साधारण रूप और शक्ति से युक्त नहीं है वे ‘निगमन धन’ हैं और उनके तेज के एक अंश से करोड़ों सूर्य-चंद्र शोभित और प्रकाशित हैं ।

तुलसी के चित्रण में गुणों की ओर और अधिक व्यापक संकेत है और सूर की भाँति केवल रूपमय परमात्मा का ही वर्णन नहीं वरन् सर्वगुणसम्पन्न छवि-शील के आगार राम का वर्णन है । जहाँ भी कहीं राम का वर्णन है उसी उच्चस्तर पर है, जैसा कि एक ओर परमात्मा के लिए और दूसरी ओर मर्यादा पुरुषोत्तम, आदर्श स्थापना करनेवाले व्यक्ति के लिए उपयुक्त है । राम के मनोहारी रूप, असीम छवि, हृदय को लुभा लेनेवाले शील-स्वभाव और अपरिमित शक्ति के द्वारा तुलसी ने इनका पूर्ण मानव के अनुकूल चित्र खींच कर

* देव ग्रन्थावली

† सूरसागर, वशम स्कन्ध, पृ० १३४, पद ४७ ।

भी उन्हें ईश्वर का अवतार ही नहीं, पूर्णब्रह्म घोषित किया है। राम अलौकिक शक्तिसम्पन्न हैं, पर उनके कृत्य सभी मानव-सुलभ हैं। राम एक आज्ञाकारी पुत्र, विनम्र और शीलवान शिष्य, क्षमा स्नेहयुक्त भाई, सच्चे मित्र, संयमी पति और वीर हैं। वे मनुष्यता की रक्षा और राक्षसत्व का नाश कर देवत्व का उद्धार करते हैं, जिन्हें मारते भी हैं उनकी आत्मा का कल्याण करते हैं। इस प्रकार राम में मनुष्य का आदर्श पूर्ण है। फिर भी विभिन्न व्यक्ति अपनी भावना के अनुसार उन्हें विभिन्न स्वरूपों में ही देखते हैं। जब राम-लक्ष्मण जनकपुर के स्वयंवर-मंडप में प्रवेश करते हैं उस समय का वर्णन देखिये:—

“राजकुंवर तेहि अवसर आये । मनहुं मनोहरता तन छाये ।
गुन सागर नागर वर बीरा । सुन्दर श्यामल गौर सरीरा ।
जिन्हकै रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ।
देखिहि भूप महा रनधीरा । मनहुं वीर रस धरे सरीरा ।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी । मनहुं भयानक मूरति भारी ।
सहित विदेह विलोकहि रानी । सिमु सम प्रीति न जाय बखानी ।
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा । सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ।
हरि भक्तन देखे दोउ आता । इष्टदेव इव सब सुखदाता ।
रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहि कथनीया ।
उर अनुभवतिन कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहं कवि कोऊ ।
रहे असुर छल छोनिय वेषा । तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम देखा ।
पुरवासिन्ह देखे दोउ आता । नर भूषन लोचन सुखदाता ।
नारि विलोकहि हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप ।

जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥” †

इस वर्णन में तुलसी ने अपनी राम-सम्बन्धी धारणा उपस्थित की है। वे अधिकांश व्यक्तियों के लिए तो मनुष्य के रूप में हैं; किन्तु कुछ तत्त्वज्ञों के लिए परमतत्त्व के रूप में। सीता का अनुभव अवर्णनीय है, क्योंकि और सभी की धारणा तक तो मनुष्य होने के नाते तुलसी की पहुँच है; पर सीता स्वयं राम की शक्ति हैं, अतः मनुष्य का उनकी अनुभूति तक पहुँचना सम्भव नहीं।

राम का वर्णन इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न तत्त्व के रूप में करने के उपरान्त, ईश्वरीय स्वरूप का विश्लेषण करने के अनन्तर वे राम का दर्शन उस अवसर के अनुकूल करते हैं और इसमें उनकी नख-शिख छवि का वर्णन है:—

सहज मनोहर मूरति दोऊ । कोटि काम उपमा लघु सोऊ ।
 सरद चंद निबक मुख नीके । नीरज नयन भावते जी के ।
 कल कपोल श्रुति कुंडल लोला । चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला ।”

.....इत्यादि ।

रूप के सौन्दर्य के साथ-साथ शील और स्वभाव का सौन्दर्य-चित्रण तुलसी के वर्णन को पूर्णता प्रदान करता है और इस प्रकार प्रतिष्ठित राम का आदर्श शाश्वत रूप में मानवता का आदर्श बना रहेगा । स्वभाव का वर्णन देखिये :—

“सुनि सीतापति सील सुभाउ ।

मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ।

सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।

कहत राम विधुवदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ ॥”

.....इत्यादि—

तुलसी का सीता का वर्णन भी उसी भावना के साथ है । वह भी अलौकिक गुण और रूप—सम्पन्न है और इस वर्णन में वे सूर की राधा से भिन्न हैं । सीता, एक देवी और राम की शक्ति के रूप में चित्रित हैं, अतः उनके प्रति बड़ी उच्च भावना व श्रद्धा बटोर कर तुलसी कहते हैं:—

“सिय सोभा नहि जाय बखानी । जगदम्बिका रूप गुण खानी ।

उपमा सकल मोहि लघु लागी । प्राकृत नारि अंग अनुरागी ॥”

इसमें ही अलौकिकता का समावेश है । तुलसी का विचार है कि स्त्री, स्त्री के रूप को देखकर नहीं मोहती (मोह न नारि नारि के रूपा), किन्तु यहाँ पर साधारण स्त्रियाँ सीता के रूप को देख कर मोह गई । इससे स्पष्ट है कि सीता का सौन्दर्य लौकिक नहीं, स्वर्गीय है । तुलसी सीता के सौन्दर्य का केवल सांकेतिक वर्णन ही करते हैं:—

“सोह नवल तन सुन्दर सारी । जगत जननि अतुलित छवि भारी ।

भूषन सकल सुदेश सुहाये । अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये ।

किन्तु इसी के साथ भवर्णनीय सौन्दर्य का आभास देते हुए वे कहते हैं:—

“सुन्दरता नहि जाय बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥”

इस शारीरिक छवि के सांकेतिक वर्णन के साथ तुलसी सीता के शील-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं । यह वर्णन सीता के अलौकिक और काल्पनिक रूप में प्राण-सा फूँकता है और हमारे सामने उनका सजीव गुणसम्पन्न रूप उपस्थित होता है । स्वयंवर के समय में उनका वर्णन देखिये :—

“गुरुजन लाज समाज बड़ि, देखि सोय सकुचानि ।

लगी बिलोकन सखिन्ह तन, रघुबोरहि उर आनि ॥”

सीता के अन्तर्गत शालीनता और लज्जा का भाव बहुत ही मनोहारी है । जिसका वर्णन तुलसी ने स्थान-स्थान पर किया है । अयोध्या से राम के बन जाते समय तुलसी ने सीता की संकोच भरी लज्जा का वर्णन इन शब्दों में किया है:—

“चारु चरन नख लेखति धरनी । नूपुर मुखर मधुर छबि बरनो ।

मनहु प्रेम बस बिनती करहीं । हमहिं सीय पग जनि परिहरहीं ॥”

इसी प्रकार पथ की ग्रामवासिनी स्त्रियों के सीता से राम का परिचय पूछने पर वे लिखते हैं :—

“तिन्हि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सकोच सकुचत वर वरनी ।

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकवयनी ।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लखन लघु देवर मोरे ।

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी । प्रभु तन चित्त भौंह करि बाँकी ।

खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति तिन्हिंहि कहेउ सिय सैननि ॥”

इस प्रकार शुभ गुणों से युक्त अप्रतिम रूपवाली सीता का वर्णन तुलसी ने किया है । तुलसी का उद्देश्य ही परमात्मा का ही गुणगान था । प्राकृत जनों के वर्णन में लेखनी चलाना वे वाणी का अपमान समझते थे । तुलसी का काव्य राम और सीता की भक्ति में सराबोर है और राम-सीता असीम गुणवान और अलौकिक सौन्दर्यशाली हैं । उनके शारीरिक और चारित्रिक सौन्दर्य ने ही तुलसी के हृदय में काव्य का प्रवाह सा लहरा दिया । उनके काव्य ने हमारे सम्मुख एक सगुण रूप उपस्थित किया, जिसकी भक्ति ने हृदयों को परम सन्तोष प्रदान किया । गुणयुक्त रूप की भक्ति के पूर्ण उदाहरण तुलसी के काव्य के समान अन्यत्र मिलना अन्यत्र दुर्लभ है । किन्तु यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भक्ति-भावना पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की अधिकांश प्रमुख-प्रेरक भावना रही है ।

भक्तिरस

हिन्दी के भक्तिभावना-सम्बन्धी काव्य के अध्ययन से हम एक महत्व-पूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो कि रस-विषयक धारणा को विकास देता है । प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने नव रस और तैंतीस संचारी भाव माने हैं और यह धारणा जो भरत मुनि से प्रारम्भ होती है, लगभग सभी परवर्ती आचार्यों-द्वारा सम्मानित हुई है । हाँ, यह अवश्य है कि कुछ आचार्यों ने एक रस को प्रधानता दी है और कुछ ने दूसरे रस को । कुछ लोग शृंगार रस को सर्वप्रधान रस मानते

हैं, तो दूसरे करुण को । भवभूति करुण रस की व्यापकता और प्रभाव को लक्ष्य करके ही कहते हैं “एकोरसः करुण एव निमित्त भेदात्” । किन्तु शृंगार की व्यापकता हिन्दी के आचार्यों-द्वारा भी पूर्ण मान्य हुई है । रीति काल में तो शृंगार को ही रसरज मानकर उसका वर्णन प्रचुर मात्रा में किया गया है और उसके सर्व-व्यापक प्रभाव के कारण अन्य रसों को गौण समझा गया है । शृंगार के रस-राजत्व की प्रतिष्ठा संस्कृत में है और उसी का ही अनुगमन हिन्दी में किया गया है । यदि हम हिन्दी की कविता पर स्वच्छन्दतापूर्वक विचार करते हैं तो रसों की प्राचीन प्रतिष्ठित धारणा को कुछ परिवर्तित अथवा विकसित करना पड़ता है । यह कहना भी अनुचित नहीं जान पड़ता कि हिन्दी काव्य में अधिकांश शांत और शृंगार रसों का ही विस्तार है । इसके पश्चात् वीररस पर और उससे भी कम हास्य, भयानक, वीभत्स आदि पर लिखा गया है । करुण रस पर भी अधिक नहीं लिखा गया । वीररस पर वीरगाथा काल में भी तथा भूषण, लाल पद्माकर आदि के द्वारा पर्याप्त मात्रा में काव्य रचना हुई है ; किन्तु सबसे अधिक भाग शृंगार और शांत रस पर ही है ।

शृंगार और शांत के ही विकसित रूपों के अन्तर्गत भक्तिभाव सम्बन्धी काव्य का प्रवाह उमड़ा है । भक्त कवियों के काव्य में शृंगार के स्थायी भाव का, रति की धारणा में विकास लक्षित होता है । हम यदि एक, भाव प्रेम मान लें तो उसके तीन भेद स्पष्ट देखते हैं—प्रथम तो पति-पत्नी का प्रेम, द्वितीय, माता-पुत्र का प्रेम और तृतीय आराध्य-आराधक का प्रेम । अन्तिम को भक्ति के अन्तर्गत रख सकते हैं । संस्कृत में अन्तिम दोनों को भावों के अन्तर्गत रखा है ; क्योंकि इन भावों को विशेष व्यापक रूप काव्य में नहीं मिल सका । संस्कृत में जो भी भक्ति सम्बन्धी काव्य है वह बड़ी सुगमता के साथ शांत-रस के अन्तर्गत रखा जा सकता है ; क्योंकि वह अधिकांश विनय और स्तोत्रों के रूप में है ।

किन्तु हिन्दी काव्य के अन्तर्गत दोनों भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है और देवता-विषयक प्रेम या ईश्वर-विषयक प्रेम से तो भक्ति काव्य भरा ही है । अतः हम इस विस्तृत प्रवाह को भाव के अन्तर्गत सीमित न रखकर रस के अन्तर्गत रखना न्यायसंगत समझते हैं । भक्ति काव्य के अन्तर्गत भक्त के भगवान् के प्रति प्रेम के विविध रूपों का विस्तृत और गंभीर वर्णन है । उसके अनेक अनुभवों का, अनेक अवस्थाओं का और अनेक चेष्टाओं का जो वर्णन है वह भक्तिरस को पूर्ण बनाता है । इसको न तो हम शांत के अन्तर्गत रख सकते हैं न शृंगार के ही अन्तर्गत, क्योंकि वह दोनों से भिन्न है

ौर साथ-साथ ही इसको भाव भी नहीं कह सकते । इस काव्य का पारायण करते समय जो भाव बनता है वह भक्ति भाव ही है जो स्थायी भाव है और अन्य भावों से भिन्न है । अतः इसका विवेचन अन्य रसों से अलग किया जा सकता है ।

कुछ विद्वानों ने इस भक्ति रस को पाँच भेदों में विभक्त किया है * वे पाँच भेद हैं:—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य । ये पाँचों कभी-कभी तो पूर्ण भक्ति रस की अवस्थाओं के रूप में आते हैं और कभी-कभी स्वतंत्र रस के रूप में । किन्तु यथार्थतः शान्त, भक्ति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । क्योंकि भक्ति का स्थायीभाव प्रेम है । आसक्ति इसका केन्द्र-बिन्दु है जब कि शांत का स्थायीभाव 'निर्वेद' है, वैराग्य है जोकि आसक्ति से विपरीत पड़ता है; किन्तु जो इसे भक्ति के अन्तर्गत रखते हैं उनका तर्क यह हो सकता है कि भक्ति की आसक्ति ईश्वर के प्रति है और शांत का निर्वेद संसार के प्रति होता है । सांसारिक निर्वेद ही ईश्वर के प्रति प्रेम को जाग्रत करता है । अतः निर्वेद, भक्ति के लिए नींव तैयार करता है, उसके लिए क्षेत्र बनाता है । किसी भी रूप में क्यों न लें, शृंगार जो कि लौकिकरति या स्त्री-पुरुष के प्रेम से ही सम्बन्धित है, भक्ति से भिन्न रस है । शान्त रस भक्ति के अन्तर्गत हो सकता है; किन्तु शान्त के क्षेत्र में भक्ति का समावेश पूर्ण रीति से नहीं हो सकता है ।

भक्तों के द्वारा जो शान्तरस का वर्णन है उसमें भक्ति व्यंग्य है । यह निर्वेद की भावना अद्वैतवाद और मायावाद के दार्शनिक सिद्धान्तों के फल स्वरूप है जिसमें चाक्षुष विश्व को पीड़ामय मान लिया है । निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार भक्तों ने जगत से निराशा, निर्वेद और घृणा के भावों का सहारा लिया है और हृदय में संसार के प्रति निर्वेद का क्षेत्र तैयार कर उसमें ईश्वर भक्ति का सुदृढ़ बीज बोया है । इस प्रकार शान्तरस, भक्ति भावना की प्रारम्भिक अवस्था के रूप में आता है । यदि इसे हम भक्ति के अन्तर्गत रखें तो इसके दो पक्ष रहते हैं:—एक तो निर्वेदात्मक, दूसरा विश्वासात्मक । निर्वेदात्मक भाव तो जगत के दुःखों, तथा सुखों की क्षणभंगुरता आदि के कारण उत्पन्न होते हैं और विश्वासात्मक भाव, परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता और दया पर विश्वास के कारण है । निर्वेदात्मक भावना के उदाहरण नीचे की पंक्तियों में देखे जा सकते हैं:—

“माली आवत देख कै, कलियन करी पुकार ।
 फूले फूले चुनि लिये, कालि हमारी बार ॥
 पात पडंता यों कहै, सुन तरुवर बनराइ ।
 अब के बिछुड़े ना मिलें, दूर पड़ेंगे जाइ ॥
 चलती चक्की देखि कै, दिया कबीरा रोय ।
 दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोइ ॥”*

सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता का भाव नीचे के पद में कितनी गहराई से व्यक्त किया गया है:—

“भूला लोग कहें घर मेरा ।
 जा घर में तू भूला डौलै, सो घर नाही तेरा ।
 हाथी घोड़ा, बैल बाहना, संग्रह कियो घनेरा ।
 बस्ती मा से दियो खदेरा, जंगल कियो बसेरा ।
 गांठी बांधि खर्च नहिं पठयो, बहुरि कियो नहिं फेरा ।
 बीबी बाहर हरम महल के, बीच मियाँ को डेरा ।
 नौ मन सूत अरुभि नहिं सुरभै, जन्म-जन्म अरुभेरा ।
 कहै कबीर सुनौ हो संतौ, यह पद करहु निबेरा ॥”†

पुनः संसार दुःखमय है यह भावना नीचे लिखे पद में कितनी गहरी है:—

“जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा ।
 उदय अस्त की बात कहत है, ताका करहु विवेका ।
 बाटे बाटे सब कोई दुखिया, क्या गिरही बैरागी ।
 सुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भहिं माया त्यागी ।
 जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तापस के दुख दूना ।
 आशा तूष्णा सब घट ब्यापी, कोई महल नहिं सूना ।
 सांच कहौं तो सब जग खींभे, झूठ कहा नहिं जाई ।
 कहै कबीर तेइ भे दुखिया, जिन यह राह चलाई ॥”‡

निर्गुण भक्तों की ही नहीं सगुण भक्तों की कविता में भी ये भाव प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। सूर और तुलसी ने भी संसार की क्षणभंगुरता पर बड़ी प्रचुरता से लिखा है, किन्तु सगुण भक्तों की कविता में अन्त में

* कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत), पृ० ३२८, पद ४५ ।

† कबीर वचनावली, शब्द २०४, पृ० १७६ ।

‡ कबीर वचनावली, शब्द २०५, पृ० १८० ।

परमात्मा के ऊपर दृढ़ विश्वास की भावना का प्रकाशन है और इस नश्वरता से उबारने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है:—

“हरि बिनु कोऊ काम न आयो ।

यह माया भूठी प्रपंच लगि रतन सो जनम गँवायो ।
 कंचन कलस विचित्र चित्रकरि, रचि पचि भवन बनायो ।
 ताको हूँ तेहि छिन ही काढ़यो पलभर रहन न पायो ।
 तेरे संग जराँगी यह करि त्रिया धूति धनि खायो ।
 चलत रही चितचोरि मोरि मुख एक न पग पहुँचायो ।
 बोलि-बोलि सुत स्वजन मित्रजन लीन्हों सो जेहि भायो ।
 पर्यो काज अब अंत की बिरियाँ, तिनही आनि बँधायो ।
 आसा करि करि जननी जायो, कोटिक लाड़ लड़ायो ।
 तोरि लियो कटि हू को डोरा, ता पर बदन जरायो ।
 कोटि जनम अमि-अमि हारयो, हरि पद चितन लगायो ।
 और पतित तुम बहुत उधारे, सूर कहा बिसरायो ॥”*

जगत की क्षणभंगुरता, दुःख एवं परमात्मा में विश्वास की भावना एक साथ ही नीचे के छन्द में व्यक्त है । तुलसी कहते हैं :—

“भूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद अम्बु चुवाते ।
 तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहुते बढ़ि जाते ।
 भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते ।
 ऐसे भये तो कहा तुलसी जु पै जानकीनाथ के रंग न राते ॥”†

किन्तु दृढ़ विश्वास की भावना सभी निराशा को दूर बहा देती है :—

“अब के राखि लेहु भगवान ।

हम अनाथ बैठे द्रुमडरिया पारधि साधे बान ।
 जाके डर भाज्यो चाहत हैं ऊपर दुख्यो सचान ॥
 दुखौ भाँति दुख भयौ आनि यह कौन उबारै प्रान ।
 सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छूटे संधान ।
 सूरदास सर लग्यौ सचार्नाहि जै जै कृपानिधान ॥”‡

* सूरसागर

† कवितावली उत्तरकांड

‡ सूरसागर प्रथम स्कंध, पद ३८

इस प्रकार के उदाहरण भक्त कवियों की कविता में बराबर मिलते हैं । निर्वेद और निराशा की भावना ही परमात्मा की दया और अनुग्रह पर विश्वास को और दृढ़ बनाती है । अतः यह अधिक समीचीन है कि निर्वेदात्मक पक्ष को हम शान्त रस के अन्तर्गत और विश्वासात्मक भावना को हम शान्त भक्ति के अन्तर्गत मान लें ।

दास्य भक्ति

भक्ति का दूसरा भाव दास्य भाव है । इसमें प्रधान भाव सेवा और आत्म-दीनता है । भक्त अपने आराध्य के सम्मुख अपने सभी दोषों को मानकर उसकी सेवा और भक्ति का अधिकार चाहता है । वह और कोई वरदान भी नहीं चाहता, केवल सेवा का ही जन्म-जन्मान्तर तक अधिकार चाहता है । दास्य भक्ति किन्हीं अंशों में तो सभी भक्तों की कविता में मिलती है पर पूर्ण-रूप से इसका विकास तुलसी के काव्य में हुआ है, जो दास्य भक्ति को ही प्रधान स्थान देते हैं । वे कहते हैं :—

“सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ॥” †

अतः उनके विचार से भक्ति का अर्थ दास्य भक्ति है जिसमें सबसे बड़े आदर्श हनुमान हैं । तुलसी भक्ति को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं । इस भक्ति के समक्ष वे मुक्ति को भी तुच्छ मानते हैं । मुक्ति राम के भक्त के पीछे-पीछे चलती है :—

“राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं । अन इच्छित आवे बरिआई” ‡

वे प्रत्येक जन्म में राम के प्रति अगाध भक्ति को छोड़ कर और कुछ नहीं चाहते हैं । काकभुसुण्डि, और शंकर राम के भक्तों के आदर्श उदाहरण हैं । राम, सृष्टि के ईश्वर हैं, सर्व शक्तिमान हैं, सर्व सौन्दर्यमय हैं, सर्व गुण सम्पन्न और परम शीलवान् हैं । उनके प्रति तुलसी की भक्ति अखण्ड, अटूट और अगाध है । राम के रूप में वे सर्वत्र सौन्दर्य, शक्ति, दया, न्याय आदि गुणों को पाते हैं । राम एक काल के पुरुष नहीं हैं, सर्व कालों के विस्तार में व्याप्त हैं । राम के इन्हीं गुणों पर उनकी भक्ति आश्रित है और जितना ही राम की कृपा का ज्ञान होता जाता है, उनकी भक्ति उतनी दृढ़ता और भी प्राप्त करती जाती है । भक्ति, गुणों का ही सहारा लेकर टिकी है । राम का अप्रतिम सौन्दर्य, उनकी सामर्थ्य और

† रामचरितमानस उत्तरकांड ।

‡ रामचरितमानस उत्तरकांड ।

उसके भी ऊपर उनका पतितपावन यश, दास्य भक्ति का आलम्बन है ।
पतितपावन यश ही भक्त को आकृष्ट करता है, तुलसी कहते हैं :—

“मैं हरि पतितपावन सुने ।

हम पतित तुम पतितपावन दोउ बानक बने ।

ब्याध, गणिका, गज, अजामिल साखि निगमन भने ।

और अधम अनेक तारे जात का पै-गने ।

...

...

...

...

दासतुलसी सरन आयो राखिये आपने ॥”†

किन्तु यह भाव और भी उत्तेजना और विकास पाता है राम के सुन्दर स्वभाव उनके शील के कारण । शील-स्वभाव का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं:—

“सुनि सीतापति शील सुभाउ ।

मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ।

सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।

कहत राम विधु बदन रिसौहैं सपनेउ लखेउ न काउ ।

...

...

...

...

सिला साप संताप विगत भई परसत पावन पाउ ।

वई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरण छूए पछिताव ।

कह्यो राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गये राउ ।

ता कुमाति को मन जोगवत ज्यों निजु तन मरम कुघाउ ॥

...

...

....

...

निज करना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ ।

सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥

समुझि समुझि गुणग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ ।

तुलसिदास अनयास राम पद पढ़ै प्रेम पसाउ ॥”‡

इस शील के कारण उनकी भक्ति में दृढ़विश्वास और उनके यश को सुन कर पुलक स्वाभाविक है :—

“नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्याण निवास ।

ओ सुमिरत भये भांग ते, तुलसी तुलसीदास ॥”

† विनयपत्रिका, पद १६०

‡ विनयपत्रिका, पद १००

“रहै न जल भरपूरि, राम सुजस सुनि रावरो ।

तिन आंखिन में धूरि, भरि भरि मूठी मेलिये ॥” *

उपर्युक्त उदाहरणों में भक्ति के स्थायीभाव तथा राम के यश, सामर्थ्य तथा शील के विभावों-द्वारा उत्पन्न बहुतेरे अनुभाव और संचारी भाव दिखलाई देते हैं। “मोद न मन तन पुलक नयन जल” में रोमांच और अश्रु अनुभाव तथा हर्ष और जुगुप्सा के संचारीभाव हैं। इनके अतिरिक्त दीनता, हर्ष, गर्व, धृति, विश्वास, शंका इत्यादि के लिए हम “कबहुँक अम्ब अवसर पाइ” (विनयपत्रिका), आपु है आपको नीके जानत रावरो नाम भरायो गढ़ायो (कवि०, ६० उत्तर काण्ड) साँची कहौं कलिकाल कराल (कविता०, १०१ उत्तर) ‘रावरो कहावौं गुण गावौं राम रावेरोई’ (कवि० ६३, उत्तरकाण्ड) तथा तुम अपनायो तब जानिहीं जब मन फिरि परिहै (२६८, विनयपत्रिका) आदि छन्द उद्धृत कर सकते हैं। सच तो यह है कि विनयपत्रिका के सभी पद दास्य भक्ति के भावों के उदाहरण हैं और इसके विस्तृत विवेचन के लिए उसके उदाहरणों को लिया जा सकता है सूर के भी विनय के पदों † में दास्य भक्ति के उदाहरण मिलते हैं और इसी प्रकार अन्य भक्त कवियों की कविता में भी।

सख्य भक्ति

जहाँ आराध्य की उपासना मित्र भाव से होती है, वहाँ पर सख्य भक्ति है। इसमें भक्त देवता के सभी गुणों से अवगत रहता है, उनके प्रति उसके हृदय में श्रद्धा और विश्वास भी रहता है। फिर भी अपने को अधिक निकटता के सम्बन्ध में स्थापित करने के नाते वह केवल भय या आतंक से प्रेरित न होकर अपने को भी समकक्षता में रखता हुआ विनोद भी करता है। इस प्रकार उसकी उपासना अधिक निकट से है। इस भक्ति में और दास्य भक्ति में अन्तर यह है कि दास्य में व्यक्ति अपनी दीनता, अपने पापों, अपनी तुच्छता की ओर अधिक सचेत रहता है। इसमें इस दीनता की भावना का स्थान नहीं। भक्त भगवान् का मित्र है, अतः सदा उनके सान्निध्य में विचरता है। इसलिए दीनता और पाप किस बात के ? वे तो कब के धूल

*बोहावली ।

† दीनता—“हौं प्रभु सब पतितन कौ टीको” ७१ सूरसागर प्रथम स्कन्ध बेंकटेश्वर प्रेस । विश्वास—“जाको दीनानाथ निवाजे” २१ सूरसागर प्रथम स्कन्ध, बेंकटेश्वर प्रेस तथा और पद ।

गये । तुलसी की भक्ति में इसका स्थान नहीं है । किन्तु सूर के ग्वाल-बाल सुदामा, बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि सभी कृष्ण के सख्य-भक्त हैं । हिन्दी काव्य में सख्य भक्ति का विकास उस व्यापकता से नहीं हो सका, जिस व्यापकता से दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भक्ति का हुआ है । विद्यापति, सूर-दास आदि अष्टछाप के कवि एवं कुछ अन्य कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में सख्य भक्ति के उदाहरण मिलते हैं । विद्यापति की कविता में अन्य भक्ति-भावनाओं की अपेक्षा सख्य भक्ति-भावना ही अधिक देखने को मिलती है । कृष्ण उनके सखा हैं, अतः वे सब प्रकार की बातें कहते हैं । मित्र की भाँति वे राधा को कृष्ण का सदेश देकर कृष्ण की वन्दना करते हैं देखिये:—

“नन्द क नन्दन कदम्ब क तरुतर धिरे धिरे मुरली बजाव ।

समय सँकेत निकेतन बइसल, बेरि बेरि बोलि पठाव ॥

सामरि तोरा लागि अनुखन बिकल मुरारि ।

जमुना क तट उपवन उदवेगल, फिरि-फिरि ततहि नहारि ॥

गोरस वेंचए अबइत जाइत जनि जनि पुछ बनमारि ।

तोहे मतिमान, सुमति मधुसूदन, बचन सुनह किछु मोरा ॥

भनइ विद्यापति सुन वरजीवति, बन्दह नन्द किसोरा ॥” †

कृष्ण और राधा के वर्णन में कृष्ण की प्रत्येक भावना को निस्संकोच भाव से वर्णन करके भी वे उनके भक्त हैं, अतः उनकी भक्ति सख्य भक्ति है । इस भक्ति का भाव जो हमारे हृदय में व्याप्त होता है वह सूर और तुलसी के विनय के पदों में प्राप्त होनेवाले भाव से नितान्त भिन्न है ।

सूरसागर के अन्तर्गत भी हम सख्य भक्ति के उदाहरण पाते हैं । जब कृष्ण अन्य गोपकुमारों के साथ बन में गाय चराने जाते हैं उस समय का सूर का वर्णन सख्य भक्ति के अनुकूल है । उदाहरण के लिए नीचे के पद्य हैं :—

“खेलत श्याम ग्वालन संग ।

सुबल हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग ।

हाथ तारी बेत भाजत सबं करि-करि होइ ।

बरजे हलधर श्याम तुम जिनि चोट लागि है गोइ ।

तब कह्यो में दौरि जानत बहुत बल मो गात ।

मोरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात ।

बोलि तबैं उठे सुदामा जाहु तारी मारि ।

आगे हरि पीछे सुदामा धरयो श्याम हँकारि ।

जानि कै में रह्यो ठाढ़ो छुवत कहा जु मोहि ।

सूर हरि खोभत सखा सो, मनहि कीन्हों कोहि ॥” *

+ + +
दुम चढ़ि काहे न ढेरत कान्हा गया दूरि गई ।

धाई जात सबन्हि के आगे जे वृषभानु वई ।

घेरे न धिरत तुम बिन माधवजू मिलत नहीं का वई ।

विडरत फिरत सकल बन महियाँ एकीहि एक भई ।

छाँड़ि खेल सब दूरि जात हैं बोलों जो सके थोक कई ।

सूरदास प्रभु प्रेम समुझि के मुरली सुनत सब आइ गई ॥

इसी प्रकार सखाओं को निस्संकोच कथन :—

सखा कहत हें श्याम खिसाने ।

आपुहि आप ललकि भये ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने ।

बोर्चाहि बोलि उठे हलधर तब इनके माइ न बाप ।

हारि जोति कुछ नेक न जानत लावत मनमें पाप ।

आपुन हारि सखा सों भगरत यह कहि दियो पठाई ।

सूर श्याम उठि चले रोइ कै जननी पूछत धाई ॥” †

इसी भाँति श्रीदामा का कथन—“खेलन में कोकाको गुसैयाँ” आदि पदों में भी गाय चराने जाते हैं, सख्य भक्ति ही व्यंजित है । सभी सखा वन में मिल कर कृष्ण के साथ-साथ और आनन्द मनाते हैं । इसका चित्रण नीचे के पद में देखिये :—

“अति आनंद भयो हरि धाये ।

ढेरत ग्वाल बाल सब आये मैया मोहि पठाये ।

उत ते सखा हँसत सब आवत चलहु कान्ह बन देखहु ।

बनमाला तुमको पहिरावाहि धातु-चित्र तन देखहु ।

गाइ लेइ सब धेरि घरन ते महर गोप के बालक ।

सूर श्याम चले गाइ चरावन कंस डरहि के सालक ॥” ‡

*सूरसागर दशमस्कंध, पद ८६ ।

†सूरसागर, दशमस्कंध, पद ६९९ ।

‡ ” ” पद ८७ ।

:: ” ” पद ५२१ ।

इन तथा इसी प्रकार के अन्य पदों में हम कह सकते हैं कि कृष्ण के सखाओं का भाव सख्य भक्ति का है, उनके हृदय में कृष्ण के प्रति श्रद्धा है फिर भी वे कृष्ण के साथ ही खेलते-कूदते हैं। यथाथ में कृष्ण के सम्पर्क में आने-वाले सभी व्यक्ति किसी न किसी भक्ति भाव के सूत्र से बंधे हैं और ये गोप-बालक सख्य भक्ति के सम्बंध में बंधे हैं। यत्र तत्र अन्य कवियों के छन्दों में भी सख्य भक्ति के उदारहरण मिलते हैं। रसखान का निम्नलिखित छन्द देखिये:—

“दानी भये नये मांगत दान हो, जानि है कंस ती बंधन जैहौ ।
टूटे छुरा बछराविक गोधन जो धन है सो सबै धन देहौ ।
रोकत हो बन में रसखान चलावत हाथ धनो दुख पैहौ ।
जैहँ जो भूषन काहू तिया को तो मोल छला के लला न बिकैं हौ ॥ *
इसी प्रकार मतिराम का नीचे लिखा छन्द:—

“मानहुँ पायो है राज कहूँ चढ़ि बंठत ऐसे पलास के खोढ़े ।
गुंज गरे सिर मोरपखा, मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े ।
मोतिन को मोरो तोरयो हरा, गहे हाथनि सो रही चूनरि पोढ़े ।
ऐसेहि डोलत छैला भये, तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़े ॥ †

आदि उदारहरण भी सख्यभक्ति की ही सुष्ठु भावना को लेकर चलते हैं। इसमें केवल सेवा या प्रेम की भावना ही नहीं, वरन् विनोद की भावना भी अंतर्निहित रहती है।

वात्सल्य भक्ति

ऊपर कही गई कविताओं में कवियों की भावना स्पष्ट है। उनकी भक्ति परम्परा से पूजे जानेवाले और युग-युग से प्रतिष्ठित परमात्मा के प्रति है अवश्य; परन्तु वे अपने विनोद को श्रद्धा या भक्ति के कारण छोड़ नहीं सकते और परमात्मा के यशस्वी कृत्यों तक की भी आलोचना करते हैं; फिर भी भक्ति का भाव उपस्थित अवश्य है। बिहारी जो अपनी सतसई में सबसे प्रथम दोहे में राधा की प्रार्थना यों करते हैं:—

“मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।

जा तनकी भाँई परे, श्याम हरित द्युति होय ॥”‡

*सुजान रसखान, ६१ छंद ।

†रसराज—३७२ छंद ।

‡बिहारीरत्नाकर १ ।

और वे कृष्ण और राधा के प्रति यह विनोद करना भी नहीं भूलते कि :—

‘चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।

को घटि वे बृषभानुजा, ये हलधर के बीर ॥” †

किन्तु यह भक्तिभावना उतनी तन्मयता नहीं रखती जितनी कि दास्य, भक्ति, वात्सल्य और माधुर्य भक्ति में अपेक्षित है । दास्य भक्ति में सेवा और समर्पण तथा दैन्य-अनुभव सबसे अधिक हैं और जिसके समान दूसरी भक्ति माधुर्य ही ठहरती है । तुलसी दास्य भक्ति के क्षेत्र में सिद्धहस्त हैं ; पर वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता करनेवाला कोई नहीं है । बालकों की चेष्टा, स्वभाव का विस्तृत विवरण सूरदास की वात्सल्य भक्ति का आधार है । वह कृष्ण की बाल-छवि, उनकी विलक्षण और मनमोहनी क्रीड़ाओं और चेष्टाओं पर मुग्ध होकर अपनी भक्तिभावना उस अलौकिक शक्तिपम्पन्न बालक को समर्पित करते हैं । कृष्ण के प्रति स्वाभाविक शिशु-मुलभ प्रेम जगाकर वे गोपी अथवा यशोदा एवं नंद के रूप में कृष्ण के प्रति अनुराग बढ़ाते हैं । कृष्ण आकर्षण के केन्द्र हैं । अपने अलौकिक साहस भरे शक्ति-वाले कार्यों के कारण नहीं, जितने कि अपनी स्वाभाविक बाललीलाओं के कारण ; जिन्हें सूर ने अपनी कल्पना-द्वारा बड़ी ही यथार्थता के साथ चित्रित किया है और एक-एक चेष्टा एक-एकक्रीड़ा को सच्ची अनुभूति से भर दिया है । वात्सल्य भक्ति में दो पक्षों का वर्णन है—एक संयोग और दूसरे वियोग । संयोग-वात्सल्य के अन्तर्गत, कृष्णजन्म के उत्सव, बधाई से प्रारम्भ होकर, उनका पालने में पड़े हाथ, पाँव चलाना, अँगूठे का मुँह में डालना, दो दाँतों का भलकना, दूध पीना, पेट के बल सरकना, घुटनों के बल चलना, तोतले बोल-बोलना, मक्खन के लिए या चंद्रमा पकड़ने के लिए मचलना, चोटी बढ़ाना, बाहर खेलने जाना, गायों को पुकारना, दूसरों के घर मक्खन चुराकर खाना और बहाना बनाना, ग्वालों के साथ गायें चराने जाना, मुरली बजाना, खेलना आदि-आदि अनेक बालमुलभ लीलाओं का वर्णन है । ये सभी लीलाएँ, यशोदा तथा अन्य गोपियों में वात्सल्य-भावना जाग्रत कर देती हैं । यह भावनाएँ उन गोपियों तथा गोपों की हैं, जो माता के रूप में हैं और कृष्ण को बालक के समान देखती हैं ।

यही सूर के वर्णन की एक सबसे बड़ी विशेषता है, जो कि सूर के काव्य को भक्तिभावना से ओत-प्रोत कर देती है । जो भी गोप या गोपी ब्रजमंडल म

कृष्ण को जिस भावना से देखते हैं, वही भावना उनकी कृष्ण के बड़ होने पर भी बनी रहती है और वह जीवन-व्यापी भावना है। नन्द-यशोदा तथा अन्य बड़ी अवस्था की गोपियाँ, कृष्ण को वात्सल्य-भावना से देखती हैं और वही भावना जीवनपर्यन्त रहती है, परन्तु गोपयुवतियाँ प्रारम्भ से ही कृष्ण को माधुर्य भाव से भजती हैं, उनके लिए कृष्ण कभी भी बालरूप नहीं हैं। कृष्ण बालपन में भी उनके अन्तर्गत प्रेम की भावना, अपने सौन्दर्य और कृत्यों के द्वारा उत्पन्न करते हैं। उनके लिए कृष्ण बालरूप में भी युवक हैं जोकि माता तथा अन्य वात्सल्य भाव से भजनेवाले गोप-गोपियों के सम्मुख बालरूप हो जाते हैं। बालक कृष्ण का ब्रजयुवतियाँ किस दृष्टि से देखती हैं यह नीचे के पद से स्पष्ट है :—

“ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात ।

वधि माखन चोरी कै लै हरि, ग्वाल सखा संग खात ।

ब्रज बनिता यह सुनि मन हरसी, सदन हमारे आवैं ।

माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहि छुवावैं ।”

.....इत्यादि ।

अतः उनकी भक्ति प्रारम्भ से ही माधुर्य भाव को लिये है ।

सूर का वात्सल्य-भक्तिभावना का वर्णन बहुत ही विस्तृत है। यशोदा का कृष्ण को पालने में भुलाना, * उनकी कृष्ण के घुटनों के बल चलने की इच्छा † उनका कृष्ण को पैर-पैर चलना सिखाना, ‡ अन्य स्त्रियों की कृष्ण को अपनी गोद में लेने की इच्छा, यशोदा का कृष्ण को दूध पीने

* “जसोदा हरि पालने भुलावै ।

हलरावै दुलराइ मलहावै जोइ सोइ कछु गावै ॥

.....इत्यादि ।

† जसुमति मन अभिलाख करै ।

कब मेरो लाल घुटुरअन रेंगे कब धरनी पग टूंक धरै ॥

.....

‡ सिखवत चलन जसोदा मैया ।

अरबराइ करि पानि गहावति, डगमगाय धरनी धरै पैयाँ ॥

.....

∴ नेकु गुपार्लहि मोकों बैरी ।

देखौ कमल वदन नीके करि ता पाछे तू कनियाँ लैरी ॥”

.....

के लिए फुसलाना, * और कृष्ण का चोटी बड़ी करने के लिए मचलना † और अन्य बहुतेरी भावनाओं का चित्रण वात्सल्य भाव को और अधिक उत्तेजित करता है। संध्या समय में माता बालक को बाहर नहीं रहने देती, जिससे कि अँधेरे में वह कहीं गिर पड़े या कोई पशु उसे रौंद डाले। यशोदा का कृष्ण को संध्या समय घर को बुलाना कितना स्वाभाविक है।

“साँझ भई घर आवहु प्यारे ।

दौरत कहा चोट लगिजैहं, पुनि खेलहुगो होत सकारे ।” ‡

कृष्ण जब बड़े होते हैं तब अपनी भोली छवि और विलक्षण बातों के कारण सभी घरों में आदर पाते हैं। वे जहाँ मन भाता है जाते हैं और मक्खन खाते हैं। कभी-कभी गोपियाँ यशोदा से कृष्ण की शिकायत करने जाती हैं, किन्तु आन्तरिक भावना कृष्ण के दर्शन की है। यशोदा उनकी शिकायत को सच मानकर कृष्ण को ताड़ना देती हैं; उसका चित्रण देखिये :—

“कन्हैया तू नहि मोहि डरात ।

षटरस धरे छोड़ि कत पर घर चोरी करि-करि खात ।

बकति बकति तोसों पचि हारी, नेकहु लाज न आई ।

ब्रज परिजन सिरदार महर तू ताकी करत नन्हआई ।

पूत सपूत भयो कुल मेरे अब में जानी बात ।

सूर स्याम अब लौं तोहि बकस्यो तेरी जानी घात ॥” ::

यह हमारे सम्मुख नटखट बालक की जिसका उरहना सभी देते हैं, ताड़ना का चित्र का उपस्थित करता है, जो नितान्त स्वाभाविक है। दूसरे ही गीत में हम कृष्ण को माता की भर्त्सना पर रोते हुए पाते हैं, जिसे देखकर माता तुरन्त ही गोद में ले लेती है, चूमती है और उन्हें छाती से लगा लेती है। यह और इसी प्रकार के अन्य अनेक गीत वात्सल्य भाव को चिरस्थायी रूप प्रदान करते

* कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़े ।

.....

† “मैया कबहि बढ़ंगी चोटी

किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ॥

.....

‡ सूरसागर, दशमस्कंध, पद १९६ ।

:: सूरसागर, दशमस्कंध, पद २९१ ।

हैं। कृष्ण गायें चराने जाते हैं; जब संध्या को वे घर लौटते हैं तो वे अपने साथी ग्वालों के व्यवहार की शिकायत करते हैं, उस पर माता का भाव नीचे के पद में देखिये :—

‘‘मैया हौं न चरैहौं गाय ।

सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों मेरे पाँय पिराय ।

जो न पत्याय पूछि बलदाउंहि अपनी सौंह दिवाय ॥

यह सुनि माइ जसोदा ग्वालन गारी देत रिसाय ।

में पठवति अपने लरिका की भावें मन नहिं राई ।

सूर स्याम मेरो अति बारो, मारत ताहि रिगाई ॥’’ *

भारतीय माता का कितना स्वाभाविक और सजीव चित्र उपस्थित है ! कृष्ण के बालरूप पर हमारा अनुराग दृढ़ हो जाता है और हम उन्हें अपने बीच में देखना चाहते हैं। इसी में सूर की वात्सल्य को एक अलग रस बना देने की सफलता है। इस प्रकार की स्वाभाविक बातों के साथ धीरे-धीरे भक्ति की भावना भी दृढ़ होती चलती है। कृष्ण आलम्बन हैं; उनकी चेष्टायें, लीलायें, उद्दीपन; वात्सल्य, स्थायी भाव; चुचुकारना, दुलारना आदि अनुभाव तथा हर्ष, खीझ, क्रोध, संशय, चिन्ता आदि संचारी भावों के साथ वात्सल्य रस का पूर्ण परिपाक है। इसका वियोगपक्ष भी कम आकर्षक नहीं। पुत्र-वियोग का अनुभव जितना करुणाजनक है उसका अनुभव एक माता का हृदय ही कर सकता है। जब कृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये तब भी यशोदा की चिन्ता कृष्ण के लिए बहुत अधिक बनी रहती है। वह जानेवालों से देवकी को कितना करुणापूर्ण सँदेशा भेजती है :—

‘‘सँदेशो देवकी सों कहियो ।

हौं तौ धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो ।

तुम तौ टेव जानतिही ह्वैहो तऊ मोहि कहि आवैं ।

प्रात उठत मोरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावैं ।

तेल उबटनों अरु तातो जल ताहि बेलि भजि जाते ।

जोइ-जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम-क्रम करि करि न्हाते ।

सूर पथिक सुनि मोहि रैन दिन बड़ो रहत उर सोच ।

मेरो अलख लड़ैतो मोहन ह्वैहो करत सँकोच ॥ †

* सूरसागर, दशमस्कंध, पद ५३३ ।

† सूरसागर, दशमस्कंध, पद २७०७ ।

कृष्ण के कृत्यों की स्मृति यशोदा तथा ब्रजवासियों पर बड़ी गहरी है । वे उन्हें पल-पल पर स्मरण करते रहते हैं ।

“एहि बिरियाँ बन ते ब्रज आवते ।

दूरहिं ते वह बंनु अधर धरि बारहि बार बजावते ।”

यशोदा कहती हैं:—

“छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यौ ।

फाटि न गई बज्र की छातो, कत यह सूल सह्यौ ॥”

ये सभी वियोग वात्सल्य की गम्भीर भावना के प्रकाशक हैं । यह सब प्रेम, लौकिक बालक के लिए नहीं है, वरन् अलौकिक चरित्रवाल श्रीकृष्ण के लिए है । अतः यह लौकिक वात्सल्य न हो कर वात्सल्य भक्ति-भावना के रूप में है । सूर के अतिरिक्त, अष्टछाप के अन्य कवियों ने तथा तुलसी ने भी वात्सल्य पर लिखा है, किन्तु सूर की समता कोई नहीं कर सका । तुलसी राम तथा लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न आदि के प्रति वात्सल्य वर्णन को उतना व्यापक और विशद नहीं बना पाये जितना सूर कृष्ण के प्रति वात्सल्य को । फिर भी वात्सल्य भक्ति-भावना है दोनों ही कवियों में । गीतावली के प्रारम्भ के पदों में तुलसी ने राम की बाल्यक्रीड़ाओं और शिशुदशाओं का वर्णन किया है । राम कुछ अनमने हैं अतः माता कौसल्या कुछ चिन्तित दीखती हैं । नीचे के पद में चिन्ता का भाव व्यक्त है ।

“आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके ।

रहत न बँठे ठाढ़े पालने भुलावत हूँ रोवत राम मेरो सो सोच सबही के ॥१॥

देव, पितर, ग्रह, पूजिये तुल। तोलिये घी के ।

तदपि कबहुँ, कबहुँक . सखी ऐसेहि अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के ।

बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के ।

सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मन्त्र पढ़े, जो सुमिरत भव भीके ।

जासु नाम सरबस सदा सिव पारवती के ।

ताहि भराबत कौसिला, यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के ॥”*

अन्तिम दो पंक्तियाँ वात्सल्य के लौकिक रूप को भक्ति में परिणत कर देती हैं । और आगे देखिये पालने का गीत है । माता, बच्चों को भुला-भुला कर नींद बुला रही है । इस समय माता की भावना स्पष्ट लक्षित है :—

“सुख नींद कहत आलि आइहौं ।

राम लखन, रिपुदवन, भरत सिसु करि सब सुमुख सोआइहौं ।
 रोवनि धोवनि, अनखनि, अनरसनि, डिठि मुठि निठुर' नसाइहौं ।
 हँसनि, खेलनि, किलकनि आनंदनि भूपति भवन बसाइहौं ।
 गोद विनोद मोदमय मूरति हरषि हरषि हलराइहौं ।
 तनु तिल तिल करि वारि राम पर लंहौं रोग बलाइहौं ॥
 रानी राउ सहित सुत परिजन निरखि नयन फल पाइहौं ।
 चारु चरित रघुवंश तिलक के तहँ तुलसी मिलि गाइहौं ।” *

इसी प्रकार कौसल्या राम को चलना सिखाती हैं और प्यार कर रही हैं :—

“ललित सुतहि लालति सचुपाये ।

कौसल्या कल कनक अजिर मेंह सिखवति चलन अँगुरियां लाये ।
 कटि किकनी पेंजनी पाँयनि, बाजत रुन भुन मधुर रिगाये ।
 पहुँची करनि कंठ कठुला बन्यो केहरि नख मनि जरित जराये ।
 पीत पुनीत विचित्र भँगुलिया सोहत स्याम सरीर सोहाये ।
 वैंतियाँ द्वै-द्वै मनोहर मुख छवि अरुन अधर चित लेत चोराये” †

तुलसी का प्रधान भाव जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दास्य भक्ति का है, वात्सल्य भाव नहीं । अतः उन्हें इतनी सफलता नहीं मिली है जितनी सूर को, जिनकी वृत्ति इस भाव में सबसे अधिक रमी है । ऊपर कही तीन प्रकार की भक्ति सगुण भक्ति के अन्तर्गत है । निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत इसका कोई स्थान नहीं ।

माधुर्य भक्ति

माधुर्यभाव, सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति के अन्तर्गत है । दोनों में अन्तर यह है कि सगुण में भक्त किसी पात्र द्वारा अपना माधुर्य भाव परमात्मा से निवेदन करता है और निर्गुण में भक्त स्वयं अपने को भगवान् की पत्नी समझ कर उस सम्बन्ध में अपने को बाँधता है । पर मीरा की माधुर्य भक्ति सबसे स्वाभाविक और तीव्र है, क्योंकि वे स्वयं स्त्री हैं, अतः माधुर्य भाव का उनका अपना अनुभव यथार्थ है । निर्गुण उपासक अद्वैतवाद पर मूलतः विश्वास करने के

* गीतावली, बालकाण्ड, पद—३६ ।

† गीतावली, बालकाण्ड, पद—५८ ।

कारण अपने को परमात्मा के समान ही समझता है और उससे जहाँ पर अनु-राग का सम्बन्ध स्थापित हुआ वहीं पर माधुर्य भाव की जाग्रति होती है। इस प्रकार यही एक भाव भक्त का रह जाता है। तुलसि के द्वारा प्रचारित रामभक्ति के अन्तर्गत ऐसी भावना का समावेश नहीं हो सकता। कृष्णभक्ति के अन्तर्गत अवश्य इस भावना का प्रचलन हुआ। राधा तथा गोपियों की उपासना माधुर्य भाव से हुई है। इसके दो पक्ष हैं, संयोग और वियोग। संयोग के अन्तर्गत कृष्ण के साथ दानलीला, जलक्रीड़ा, रासलीला, बंसीवादन इत्यादि हैं और वियोग के अन्तर्गत गोपियों की विरहदशा का चित्रण है। भ्रमरगीत तथा अन्य पदों में इसी भावना का वर्णन है। रासलीला और भ्रमर-गीत के पद संयोग और वियोग माधुर्य भक्ति के उदाहरण स्वरूप हो सकते हैं।

निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत माधुर्य ही अकेला भक्ति-भाव है जिसे भक्त निराकार भगवान् के साथ आरोपित करता है और यह भी परमात्मा से मिलने के अनुभव का प्रतीक मात्र है। विरह, परिचय, मिलन, आनन्द आदि की अवस्थाओं को पार करता हुआ भक्त अपने पथ पर चलता है। निर्गुण में वर्णन स्वानुभूत और प्रकाशन यथानुभूत होता है, पर सगुणोपासक भक्त किसी लीला को लेकर उसके वर्णन में अपने को किसी पात्र के रूप में समझ कर अपने भाव व्यक्त करता है। निर्गुणपथ में विरह की भावना आत्मशुद्धि के हेतु बड़ी आवश्यक है, इसके बिना भक्तिपथ पर अग्रसर होना असम्भव है। आत्मा का परमात्मा के प्रति जो प्रबल अनुराग होता है वह किसी अंश में पति-पत्नी के प्रेम से तुलनीय होता है। अतः उस सम्बन्ध की उपासना को भी माधुर्य भक्ति कह सकते हैं। जायसी अपनी पद्मावती में पद्मावती और रतनसेन के विरह और प्रेम का वर्णन करते हैं। किन्तु उसमें उन दोनों पत्रों में कोई भी एक आज परमात्मा के स्तर पर प्रतिष्ठित नहीं है। अतः उसको हम माधुर्यभक्ति के अन्तर्गत नहीं रख सकते। सूर के अतिरिक्त माधुर्य भक्ति के प्रसिद्ध उपासक दो और हैं। एक कबीर और दूसरी मीरा *। कबीर का प्रेम ईश्वर के प्रति बड़ा गहरा था। वे अपने को राम की स्त्री के रूप में मानकर पति के रूप में उपासना करते हैं। वे स्वयं व्यक्त करते हैं :—

* मीराबाई की उपासना “माधुर्यभाव” की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं”

रामचन्द्र शुक्ल का हि० सा० इ०, पृष्ठ २२४।

“हरि मोर पिउ में राम की बहुरिया ।
राम बड़े में छूटक लहुरिया ।

+

+

+

हरि मोर पीव माई हरिमोर पीव ।
हरि बिनु रहि न सकत मोर जीव ॥”

कबीर दुनिया के सम्बन्धों को क्षणभंगुर समझते हैं। इनके स्थायित्व में उन्हें कुछ भी विश्वास नहीं है। इस प्रकार की भावना ‘शान्त भक्ति’ के अन्तर्गत दिखलाई जा चुकी है। अतः उनका विश्वास निराकार परमात्मा में है जो कि सर्व शक्तिमान और दयालु है। वही निराकार राम कबीर के पति हैं। कबीर का विश्वास है कि राम-भक्ति में कुछ त्रुटि होने के कारण आत्मा को इस जगत में आना पड़ा है * और इस जगत में आकर उन्हें परमात्मा के आनन्दमय सम्पर्क से बिछुड़ कर वियोग का अनुभव करना पड़ा है। इस वियोग का वर्णन नीचे लिखी पंक्तियों में देखिये :—

“आँखड़ियां भाई पड़ी, पथ निहारि निहारि ।

जीभड़ियां छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि ॥

हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय ।

हाँसी खेले हरि मिले, कौन दुहागिन कोय ॥”†

साँई बिन दरद करेजे होय ।

दिन नहि चैन रात नहि निदिया, कासे कहूँ दुखरोय ।

आधी रतिया पिछले पहरवा साँई बिना तरस तरस रही सोय ।

कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साँई मिले सुख होय ॥ ‡

मंना नीभर लाइया, रहट बसे निसि जाम ।

पपीहा उयूँ पिय पिव करौँ, कबहुँ मिलहुगे राम ॥”+

परमात्मा का देश जिसे कबीर पति का देश कहते हैं उनके लिए प्रबल आकर्षण रखता है। वे उस प्रदेश में जाने और उसे देखने के लिए व्याकुल हैं। उन्हें उसका कुछ परिचय ज्ञात है। वे कहते हैं :—

* “हरि कहते कछु चूक परि गई पकरि जोलाहा कीन्हा” ।

† कबीर वचनावली, साखी १५३, १६२ ।

‡ कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)—५२ पद ।

+ कबीर वचनावली, साखी—१५४ ।

“चल हंसा वा देस जहँ पिया बसै चित्तचोर ।
 सुरत सोहागिन हँ पनिहारिन, भरै ठाढ़ बिन डोर ॥
 वहि देसवा बादर ना उमड़ै, रिमझिम बरसै मेह ।
 चौबारे में बँठ रहो ना, जा भीजहु निबँह ।
 वहि देसवा मा नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर ।
 एक सुरज के कवन बतावै, कोटिन सुरज उजैर ॥”*

कबीर नैहर-पिता का घर अर्थात् इस संसार—कोनहीं चाहते हैं और पति के घर शीघ्र से शीघ्र जाने के लिए व्यग्र हैं :—

“नैहरवा हमका नहि भावै ।

साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोउ जाइ न आवै ।

चाँद सुरुज जहँ पवन न पानी, को सँदेस पहुँचावै ।

दरद यह साँई को सुनावै ॥

आगे चलौ पंथ नहि सूझै, पीछे दोष लगावै ।

केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै ।

विषै रस नाच नचावै ॥

बिनु सतगुरु कोऊ नहि, अपना जो यह राह बतावै ।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै ।

तपन यह जी की बुझावै ॥”†

उस देश जाने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार हैं । उन्हें मालूम भी है कि राम से मिलना बहुत कठिन है । इस कारण वह संसार के सभी दुखों को सह कर अपने को परिष्कृत कर प्रिय का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । प्रिय से मिलने की इच्छा में वह मृत्यु को भी जिससे संसार डरता है आनन्द-दायी वस्तु समझते हैं । वे कहते हैं:—

“जा मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद ।

कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द ॥”‡

यदि एक बार भी राम से भेंट हो जाय तो-फिर वे उन्हें कभी न छोड़ें और उस अवस्था का गहरा प्रेम, तीखी अनुभूति और तन्मयता नीचे के दोहे में कितनी स्पष्ट है:—

* कबीर, पृ० २६१, पद ७७ ।

† कबीर का रहस्यवाद (रामकुमार वर्मा), पृ० ५८, परिशिष्ट (क) ।

‡ कबीर वचनावली, साखी—२५६ ।

“नैनं अन्तर आव तू, ज्युं हों नैन भेपेउँ ।

ना हों देखों और कूँ, ना तुझ देखन देउँ ॥”*

विवाह के अवसर पर दुलहिन पति के द्वारा दी हुई चुनरी धारण करती है । चुनरी, सुन्दर, बेल-बूटों से चित्रित और मनोहारी चोखे लाल रंग से रंगी होती है । यह विवाह के समय दी हुई चुनरी पत्नी के लिए बड़ी मूल्यवान होती है और वह बड़े यत्न से सुरक्षित रखती है । कबीर अपने प्रिय से प्राप्त चुनरी के विषय में, जो उसके प्रेम का चिन्ह है, कहते हैं:—

“चुनरिया हमरी पिया ने सँवारी ।

कोउ पहिरै पिय की प्यारी ।

आठ हाथ की बनी चुनरिया, पँचरँग पटिया-पारी ।

चाँद सुरज जामेँ आँचल लागे, जगमग ज्योति उजारी ।

बिन ताने यह बनी चुनरिया, दास कबीर बलिहारी ॥”†

कबीर इस विलक्षण चुनरी को बड़ी ही सतर्कतापूर्वक ज्यों की त्यों रखते हैं :—

“दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चुनरिया ॥”

इस भक्ति की अन्तिम अवस्था आनन्द की है । जैसे ही माधुर्य भावना का भक्त अपने प्रिय परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करता है, उसका हर्ष बढ़ता जाता है । यह अवस्था ऐसी है जैसी कि पत्नी की पति के समीप जाते समय होती है । अन्त में वह परमात्मा से मिलकर एक होकर अखण्ड आनन्द कर अनुभव करता है:—

“ए अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो ।

खंभा पकरि पतंग असि डोलै, बोलै मधुरी बानी ।

फलन सेज बिछाय जो राखी, पिया बिना कुम्हिलानी ।

धीरे पाँव धरो पलंगा पर, जागत ननद जिठानी ।

कहत कबीर सुनो भई साधो, लोकलाज विछलानी ॥”‡

इसी प्रकार आनन्दानुभूति को प्रकट करनेवाला “आज दिन के मैं जाउँ

* कबीर वचनावली साखी—२८१ ।

† कबीर वचनावली ।

‡ कबीर वचनावली पद १६६ ।

बलिहारी” (कबीर-हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६६), “रस गगन गुफा में अजर भरै” तथा अन्य पद हैं।

मीरा की भक्ति, स्त्री होने के कारण, स्वभावतः माधुर्य भाव की ओर झुकी है। उनके कृष्ण से वियोग-दशा के उद्गार बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। वे कृष्ण की उपासक थीं और उनका मधुर भाव निर्गुण भक्ति सम्मत न होकर सगुण भक्ति सुलभ है। ऐसा कहा जाता है कि वे यह पूछने पर कि वे पुरुषों की लाज-शरम क्यों नहीं करतीं, कहा करती थीं कि इस संसार में सभी स्त्रियाँ हैं, पुरुष है कौन ? कृष्ण को छोड़कर और कोई भी पुरुष नहीं। यह कथन उनके आत्मज्ञान का द्योतक है। पुरुष का अर्थ है परमात्मा और स्त्री आत्मा के रूप में है। अतः उन्होंने कृष्ण को ही पुरुष मानकर उनकी उपासना की है। मीरा के पद तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। उनकी भक्ति-भावना बड़ी ही प्रबल थी और परिवार में अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार होने पर भी उनका कृष्ण के प्रति अनुराग अटल रहा। वे जन्मभर कृष्ण-वियोग में व्याकुल रहीं। वियोगानुभूति का एक पद देखिये:—

“सखी मेरी नोंद नसानी हो।

पिय को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो।

सखियन मिलकर सीख दई मन एक न मानी हो।

बिन देखे कल नाहि परत जिय ऐसी ठानी हो।

अंग अंग व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।

अन्तर बेवना बिरह की कोऊ पीर न जानी हो।

ज्यूँ चातक घन कूँ रटें मछली जिमि पानी हो।

मीरा व्याकुल बिरहिनी सुध बुध बिसरानी हो॥”

मीरा के सभी गीत अलौकिक प्रेम की पीर से भरे हुए हैं। कृष्ण के रूपमाधुर्य पर वे आकृष्ट हैं और उसपर अपने को निछावर करती हैं:—

“वा मोहन के मैं रूप लुभानी।

सुन्दर बदन कमलदल लोचन, बाँकी चितवन मंद मुसकानी।

जमुना के नीरे तीरे धेनु चरावे, वंशी में गावैं मीठी बानी।

तन मन धन गिरिधर पर बारूँ चरण-कमल ‘मीरा’ लपटानी।” †

मीरा गोपी स्वरूपा हैं। सूर ने गोपियों के अनुभव के रूप में जिसे वर्णन

किया, वह मीरा के निजी अनुभव हैं; अतः उनकी उक्तियाँ सबसे अधिक मर्म-स्पर्शिनी हुई हैं ।

माधुर्य भक्ति-भावना सबसे तीखी और प्रबल भावना है । इसके उपासक पक्के अनुरागी हैं । परमात्मा इसमें आलम्बन; उसका रूप, गुण, आनन्द आदि उद्दीपन; संसार से उदासीनता, प्रिय-मिलन का हर्ष, दीनता, शंका, गर्व, विषाद, औत्सुक्य आदि के संचारीभावों से युक्त; पुलक, अश्रु, अनिद्रा आदि अनुभावों से संपन्न यह माधुर्य भक्ति समर्थ भक्ति-भावना है । हिन्दी काव्यक्षेत्र में सभी प्रकार की भक्ति-भावनाओं का समावेश है, पर दास्य, वात्सल्य और माधुर्य का प्रचुर मात्रा में वर्णन हुआ है और यह भक्ति-भावना भक्तिरस, के रूप में हिन्दी काव्य की एक प्रमुख विशेषता प्रगट करती है ।

हिन्दी काव्य में रहस्य-भावना

स्वर्गीय आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में लिखा है:—"स्वाभाविक रहस्यभावना बड़ी रमणीय और मधुरभावना है, इसमें सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग (creed) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।" *

रहस्य एक भावना ही है काव्य-सिद्धान्त नहीं, किन्तु जैसा शुक्ल जी का मत है इस भावना के साथ काव्य का समावेश होने पर हमें ऊँची कविता मिलती है। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि भक्ति-भावना से सम्बन्धित कविता में हमें अनोखा सौन्दर्य मिलता है, ऐसा ही रहस्य भावना के अन्तर्गत भी है। इसके पूर्व कि हिन्दी काव्य के अन्तर्गत रहस्य-भावना का विश्लेषण किया जावे, यह आवश्यक है कि रहस्य-भावना का परिचय संक्षेप में हम प्राप्त कर लें। एक अदृश्य, असीम और निराकार शक्ति का, अपने अथवा विश्व के व्यापारों के अन्तर्गत व्याप्तरूप में अनुभव करना ही रहस्य-भावना का मूल है। और जहाँ पर उसके साथ भावात्मक सम्बन्ध का प्रकाशन आ जाता है वहीं पर वह काव्य के अन्तर्गत रहस्य-भावना कही जाती है। यह रहस्य-भावना परमात्मा संबंधी तार्किकज्ञान से भिन्न है इसीलिए विद्वानों ने इसे सहज और स्वानुभूत अनुभव कहा है। प्रोफेसर रानडे अपने ग्रन्थ "इण्डियन मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र" की भूमिका में लिखते हैं कि "रहस्य भावना वह मनोवृत्ति है जिसके अन्तर्गत परमात्मा का सीधा, तत्कालिक और अपना सहज अनुभव रहता है" †

* काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११५।

† "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of God".

(Indian Mysticism in Maharashtra by Prof. R. D. Ranade P. 1. Preface.)

इसी प्रकार डा० एस० एन० दास गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में लिखा है:—मिस्टिसिज्म यूरोपीय शब्द है जिसके पीछे एक निश्चित इतिहास है। बहुतेरे यूरोपीय लेखकों ने इस शब्द को अपने आराध्य देवता के ध्यान, सम्पर्क और मानसिक अनुभवों द्वारा सहज अथवा आनन्दपूर्ण मिलन के अर्थ का द्योतक माना है अथवा मनुष्य की आत्मा का चरम सत्य के साथ सम्बन्ध या प्रबल मिलाप के अर्थ को प्रकाशित करनेवाला बताया है * परन्तु उनके विचार से मिस्टिसिज्म (रहस्यवाद) "एक सिद्धान्त, नियम या भावना है जो तर्क को पूर्ण सत्य की खोज अथवा उसके अनुभव में असमर्थ समझती है— (सत्य का स्वभाव चाहे जैसा हो) पर साथ ही साथ किसी अन्य ढंग को निश्चय हो उस तक पहुँचने में समर्थ समझती है।" † यह अन्य ढंग, सहजानुभूति है जिसको कबीर ने 'सहजज्ञान' कहा है जो अनेक व्यक्तियों व ग्रन्थों के बताये ज्ञान का आधार अवश्य लेता है पर जो है अपना निजी और अपने भीतर ही प्राप्त किया हुआ अनुभव। इसी को कुछ लोग भावात्मक सम्बन्ध कहते हैं, सगुण भक्त कवियों ने भी ईश्वर को ज्ञान-गम्य नहीं वरन् भाव-गम्य कहा है।

भक्ति और रहस्य भावना

ऊपर कहे गये सीधे और टेढ़े-मेढ़े शब्दों का अन्ततोगत्वानिष्कर्ष यही निकलता है कि रहस्यवाद ईश्वर के ज्ञान, तर्क और दर्शन के आधार पर प्राप्त निराकार और असीम स्वरूप की भक्ति है। कुछ विद्वान्-भक्ति और रहस्य भावना को

* "The word Mysticism is a European word with a definite history. Most European writers have used it to denote an intuitive or ecstatic union with the deity, through contemplation, communion or their mental experience, or to denote the relationship and potential union of human soul with ultimate reality."

P. 16, Hindu mysticism by Dr. S. N. Das Gupta.

† "a theory, doctrine or view that considers reason to be incapable of discovering or realising the nature of ultimate truth, whatever be the nature of this ultimate truth, but at the same time believes in the certitude of some other means of arriving at it."

P. 16, 17, Hindu mysticism by Dr. S. N. Das Gupta.

एक मानते हैं और वे उपनिषद् भागवत, भगवद्गीता, शैवतन्त्र, नारद और शांडिल्य भक्ति-सूत्रों को रहस्यवादी भावना के अन्तर्गत सम्मिलित करके भक्ति और रहस्य-भावना में कोई अन्तर नहीं बताते हैं * । व. तुलसी, कबीर नाभादास आदि सभी भक्तों को रहस्य-भावना के ही भावक मानते हैं । † इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत भक्ति का विस्तृत अर्थ लेकर भक्ति को ही रहस्यवाद का पर्याय मान लिया गया है । किन्तु, पंडित रामचन्द्र शुक्ल अव्यक्त और निर्गुण को ज्ञान और जिज्ञासा का विषय मानते हैं, भक्ति या किसी भी भावात्मक सम्बन्ध से उसकी उपामना या अनुराग तब तक सम्भव नहीं जब तक कि उसके गुणों तथा उसके स्वरूप से हम परिचित न हों । वे लिखते हैं:—

“व्यवहार पक्ष में शंकराचार्य ने जिस उपामना-गम्य ब्रह्म का अवस्थान किया है वह सोपाधि या सगुण ब्रह्म है, अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता नहीं । अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष (absolute) ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी । अव्यक्त और निर्गुण की नहीं । ईश्वर, शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं ।.....”

भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और व्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है; अभिलाषा या लालसा नहीं ।..... जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है । जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है । उसका ज्ञेय के प्रति अनुराग, राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता । उसका सम्बन्ध

* देखिये—

“Indian mysticism in Maharashtra by R. D. Ranade,
Pages 2 to 14.

और

“Hindu Mysticism by Dr. S. N. Das Gupta.

† “Ramanand, who was a philosophical descendant of Rama Nuja, quarrelled with his spiritual teacher, and came and settled at Banaras. From him, three great mystical schools started up. the first, the School of Tulsidas; the second, the school of Kabir; and the third, the School of Nabhaji. Kabir was also influenced by sufism. Tulsidas was greatly influenced by the historico-mythical story of Rama.”

• P. 15, Indian Mysticism by R. D. Ranade .

शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष, रति-भाव का एक भंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान् के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय भक्ति पद्धति है।” *

ऊपर के कथन में शुक्लजी ने जिज्ञासा और ज्ञान की क्रिया को अनुराग या प्रेम, उपासना या भक्ति की क्रिया से बिल्कुल ही अलग कर दिया है। भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास हमें बताता है कि ऋषि-मुनि चिन्तन-द्वारा ब्रह्म के जिस ज्ञान के समीप पहुँचे हैं उसको व्यवहारिक रूप में लाने के लिए तदनुकूल उसकी भक्ति भी उसी के साथ-साथ ही चलती है। चिन्तन-द्वारा हमें यह जानने में आया कि ब्रह्म सर्वान्तर्यामी है अतः वह हमारे अन्तःकरण में भी व्याप्त है। इस ज्ञान को लेकर हमने उसे अपने में खोजा और उसका जो अनुभव-हमारी भावनाओं से सम्बन्धित हुआ उसी अनुभव को हम रहस्य-भावना कह सकते हैं। भक्ति को यदि हम कुछ और सीमित रूप में लें तो इस अनुभव-द्वारा प्राप्त स्वरूप की चेतना, उपासना अथवा उसके प्रति कर्तव्यशील रहना आदि भाव, भक्ति के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार हमें इस उपासना के विकास के तीन स्वरूप देखने को मिलते हैं। प्रथम बौद्धिक चिन्तन, दूसरा स्वात्म या सहज अनुभव और तीसरा भक्ति या उपासना। प्रथम दोनों का व्यवहारिक रूप तीसरी क्रिया है। किन्तु कभी-कभी दूसरा और तीसरा रूप एक में ही मिलता है। प्रथम को दर्शन, दूसरे को रहस्यवाद और तीसरे को भक्ति-भावना कह सकते हैं। तीसरी क्रिया में दूसरों के द्वारा बताये ज्ञान, अनुभव और क्रिया पर विश्वास अधिक रहता है, स्वयं अपना स्वानुभूत अनुभव कम। भक्ति का अर्थ है भजना या सेवा करना, प्रार्थना करना, गुण मानना आदि। यह यथार्थतः हम सभी कर सकते हैं जबकि हम जिसकी भक्ति करने जा रहे हैं उसको अच्छी तरह जानते हों, उसके स्वरूप से भली भाँति परिचित हों।

किन्तु एक बात और है। यथार्थ भक्त अपने आराध्य के प्रति अपने सहज निजी अनुभव को छोड़ नहीं बैठता। उसकी भक्ति में गुण-गान, नामसुमिरण के साथ-साथ सहज अनुभव भी चलता है। बिना इसके भक्ति का आनन्द नहीं रहता और भक्ति का विकास रुक जाता है। अतः साधारणतः दोनों ही साथ-साथ चलते हैं और बड़े भक्तों में तो विशेष रूप से, क्योंकि उनका स्वात्मा-

भुवने ही उसकी भक्ति-भावना का अजस्र स्रोत होता है । हम यह भी कह सकते हैं कि रहस्यवादी सच्चा भक्त भी होता है, क्योंकि जिसका अनुभव हमने किया है, जिस तत्त्व की भावगम्य बनाया है, उसके साथ कोई न कोई सम्बन्ध जोड़ कर हम उसका साक्षिध्व पाने, उसके गुण गाने के लिए अवश्य प्रयत्नशील रहते हैं । इसलिए रहस्यवादी भक्त होता है और सच्चा भक्त रहस्य-भावना से युक्त रहता है । जब हमारी दृष्टि विश्व के अन्तर्गत सर्वत्र व्याप्त परम सत्ता का दर्शन करती है, हृदय उसका अनुभव करता है तब धीरे-धीरे उसको और भी निश्चित स्वरूप देने का प्रयत्न किया जाता है । अतः इसी रहस्य-भावना ने धीरे-धीरे अवतारवाद को भी जन्म दे दिया है । इस बात को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी माना है । उनका कथन है:—

“सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी, तब वह अपने हृदय को जगत् के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा । वह खिले फूल में, शिशु के स्मित आनन में, सुन्दर मेघमाला में, बिखरे हुए चन्द्र-बिम्ब में उसके सौन्दर्य का; गम्भीर मेघ गर्जन में, बिजली की कड़क में, बज्रपात में, भूकम्प आदि प्राकृतिक विप्लवों में उसकी रोद्रमूर्ति का; संसार के असामान्य वीरों, परोपकारियों और त्यागियों में उसकी शक्ति, शील आदि का साक्षात्कार करता है । इस प्रकार अवतारवाद का मूल भी रहस्यभावना ही ठहरती है ।” †

ऊपर देखने से अवतारवाद या साकार स्वरूप की भावना, रहस्यवादी भावना के कुछ विरोध में पड़ती है क्योंकि अवतारवाद से राम या कृष्ण अथवा अन्य अवतारों का एक निश्चित व्यक्तित्व हो जाता है, निश्चित रूप और गुण भी निश्चित से ही हो जाते हैं । उनका प्रभाव कुछ-कुछ हमारे ऊपर इसी प्रकार का पड़ता है जैसा कि एक महापुरुष का । ऐसी दशा में रहस्य की व्यापक भावना जागरूक नहीं रह पाती । हम उसके प्रति प्रार्थना, अनुगम सर्वत्र व्याप्त सत्ता के रूप में नहीं कर पाते हैं । सृष्टि के कण-कण में उसकी चेतना का अनुभव भूल जाते हैं । इसी लिए तुलसी और सूर को राम और कृष्ण के जीवन-वर्णन के समय पद-पद-पर ईश्वरीय सत्ता का संकेत करना पड़ा है, क्योंकि वे मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं । बुद्धि, मनुष्य के रूप में ईश्वर को मानने के लिए तैयार नहीं, वह ईश्वर को ब्रह्माण्ड-व्यापक, सूक्ष्म तत्त्व के रूप में मानती है जो मानव के

अन्तर्गत है अवश्य, पर केन्द्रीभूत हो कर नहीं। क्योंकि उसकी कोई अज्ञान-व्यवस्था नहीं है। इस लिए कबीर ने सगुण अवतारवाद के विरोध में कहा है।

“बसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना । राम नाम कर मरम है आना”

राम उस ब्रह्म का नाम है जो सभी में व्याप्त है, सभी में रमण करता है। दशरथ के पुत्र राम उस भगवान् के ‘राम’ नामधारी एक महापुरुष हैं। इसलिए नाम सुमिरण या भक्ति करते समय उसी ‘राम’ नामी ब्रह्म या ईश्वर से ही तात्पर्य है, दशरथ-कौशल्या के पुत्र से तात्पर्य नहीं। अवतारवाद ने राम और कृष्ण के जीवन में अलौकिक लीलाओं का समावेश करके उन्हें ही पूर्ण ब्रह्म मान कर स्मरण किया है। तर्क और बुद्धि के लिए इस अवतारों की भक्ति में केवल इतनी गुंजाइश है कि जहाँ ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, वहाँ वह इन महापुरुषों में भी है जो कि अन्य मानवों से अधिक गुण-सम्पन्न हैं। अतः उन पर ही ध्यान केन्द्रित करना, उनकी ही भक्ति करना भी फलदायी है, क्योंकि भक्ति के अन्तर्गत होनेवाला मन का परिष्कार आनन्द-अवस्था का उद्घाटन बराबर उस दशा में भी होता है। पर सगुण अवतारों में श्रद्धा करना बहुत कुछ परम्परागत विश्वास का काम है; उनके रूप में हम ईश्वर को मूर्ति में केन्द्रित ही देख सकते हैं; युग-युग में नये-नये रूप में उसका अनुभव नहीं कर सकते हैं। अतः रहस्यभावना अवतारवाद का मूल-कारण होती हुई भी अवतारवाद के आरोपित हो जाने पर इसके विश्वास के साथ-साथ नष्ट हो जाती है। विशेष रूप से तब, जब हम राम और कृष्ण की भक्ति का केन्द्रस्थान मन्दिर और ठाकुरद्वारा आदि ही समझ बैठते हैं। उनकी सर्वव्यापिता भुला देते हैं। भक्ति के प्रचारार्थ अवतारों की पत्थर-लकड़ी की मूर्ति, चित्र आदि स्थापित कर साक्षात् दर्शन कराकर राम या कृष्ण की वैष्णव भक्ति का प्रचार बढ़ाया गया। किन्तु इस अधिक प्रचार पायी भक्ति के पात्रों में भक्ति का वह तीखा अनुभव नहीं रह जाता जिस की उपस्थिति से ही भक्ति और रहस्य भावना एक हो जाती है।

यथार्थ ने भारतीय सगुण भक्ति-भावना एक निश्चित श्रद्धा, विश्वास, सेवा और समर्पण की भावना है जैसी कि हम माता-पिता या गुरु के लिए रखते हैं। किन्तु जैसी हम माता-पिता-गुरु के परोक्ष में सर्वत्र उस भावना से ओत प्रोत नहीं रहते, ऐसे ही अवतारवाद की भक्ति भी हमारे सभी कामों में सभी स्थानों में अपना प्रभाव नहीं रखती। रहस्य-भावना अपने अन्तर्गत या विश्व के कण-कण में व्याप्त परमात्मा की सत्ता देखती है। अतः रहस्य भावना का भक्त, सर्वत्र ही आत्मानुभूति से ओत प्रोत रहता है। उसका अनुभव नित्य-

नया-नया है। उसका विश्वास प्रतिक्षण अनोखे और सुदृढ़ आधार प्राप्त करता रहता है।

रहस्यभावना के अन्तर्गत व्यक्ति, पूर्ण शक्तिशाली, सौन्दर्यवान् ब्रह्म के अनुभव में तल्लीन रहता है। अतः उसके नित्य के क्षण प्रतिक्षण के नवीन अनुभव काव्य को विलक्षण सौष्ठव प्रदान करते हैं। भक्ति और रहस्य भावना में मोटे तौर से यही अन्तर है कि हम अवतारों की भक्ति के रूप में ईश्वर की अतीत में की गई लीलाओं का कल्पनागत अनुभव करते हैं और रहस्यभावना में हम अब भी पल-पल में उसकी लीला, उसके स्वरूप का अनुभव करते हैं। अतः भक्तिभावना और रहस्यभावना एक होते हुए भी एक रूढ़ि है दूसरी शाश्वत और सजीव। मूल में रहस्य और भक्तिभावना एक हैं, पर उनके विस्तार में यहाँ पर अन्तर हो गया है।

रहस्य भावना के दो स्वरूप हैं:— प्रथम तो आत्मा का, परमात्मा या ईश्वर की लीला, उसके गुण या स्वरूप का नित्य नया आनन्ददायी अनुभव और दूसरा उस अनुभूत ज्ञान के आधार पर प्राप्त परमात्मा को आत्मसमर्पण। प्रथम को हम रहस्यदर्शन और दूसरे को हम रहस्यभक्ति कह सकते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसमें अपना निजी सहज अनुभव अपेक्षित है। अतः रहस्यदर्शन की भावना के अन्तर्गत विश्वरूप ब्रह्म का जगत् के अनेक शक्ति, सौन्दर्य के प्रतीकों में दर्शन करना सम्मिलित है और भक्ति के अन्तर्गत उसको अपनी आत्मा से सम्बन्धित करके अपनाव एवं सगेपन का भाव प्राप्त कर भावात्मक उद्गार आ जाते हैं। दोनों ही काव्य की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और रहस्यवादी में कभी-कभी केवल एक और कभी दोनों ही स्वरूप देखने को मिलते हैं। इस-अनुभव के पूर्व और साथ-साथ सदैव आत्म-परिष्कार की क्रिया चलती रहती है। अतः साधारण अवस्था में इसका अनुभव सम्भव नहीं। रहस्य की भावना को बहुत कुछ हम योगी की अनुभूति के समकक्ष रख सकते हैं। इसके अन्तर्गत आत्मा और विश्व के भीतर एक समन्वय या सामंजस्य-सूत्र का दर्शन आवश्यक है, जो योग की समत्व भावना कही जा सकती है और जिस प्रकार योगी अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा आत्म-परिष्कार करता रहता है, ऐसे ही रहस्यवादी बड़े ही कठिन आचरण और नियमों का पालन करता है † इसी के फल स्वरूप उसे परमात्म-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त होते हैं।

† "Mysticism is the art of finding a harmonious relationship to the whole of reality which man envisages. Humanly speaking man seeks to find peace with self and his universe. Mystical intuition establishes a perfect harmony of being and certainty

रहस्यवादी कविता गहरे अनुभवी भक्तों की अनुभूति का प्रकाशन है और यों तो इसके अन्तर्गत अनेक भाव आते हैं पर अधिकांश रहस्यवादी कवियों में प्रेम की भावना सबसे अधिक तीखी माधुर्य भाव के अन्तर्गत ही रहती है और सुन्दर तथा सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर को सबसे अधिक निकट हम प्रियतम के रूप में ही देख सकते हैं। प्रेम की, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भावना सबसे अधिक गहरी होती है अतः इसी रूप में इसका अधिक विकास हुआ है। रहस्य-भावना के अन्तर्गत सभी भावनाएँ परमात्मा के प्रति बौद्धिक प्रेम में परिणत हो जाती हैं और इस प्रकार भावनाओं को उच्चता और अनुभूति को विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम रहस्यभावना का विश्लेषण करें तो देखेंगे कि यह एक स्वभाविक भावना है। विश्व की बहुत सी बातें हैं जिन्हें हमारी बुद्धि समझ नहीं पाती है। हम यह भी देखते हैं पूर्ण कारण किसी एक बात का होते हुए भी परिणाम में प्रायः मनुष्य की आशा को चोट पहुँचानेवाली विपरीत बात हो जाया करती है। शक्तिशाली मनुष्य कभी-कभी अपने विस्तृत राज्य पर अधिकार होने पर भी अपने को नितान्त निर्बल पाते हैं। ऊपर बिखरा हुआ ब्रह्माण्ड जिसमें एक-एक ग्रह एक-एक ताराबिन्दु के रूप में है, हमारे सामने प्रति निशा को मानों हमारी आँखें खोलने के लिए खुल पड़ता है। कीचड़ और काँटों से घिरे हुए स्थल में अचानक कैसे कोमल और रंग-बिरंगे फूल हँस पड़ते हैं कि हमें इन सबके भीतर एक रहस्य का उद्घाटन सा दीखता है। मनुष्य बड़ा निर्बल है फिर भी अपनी छोटी शक्ति पर उसे कितना गर्व है। कभी-कभी अकारण ही पूर्ण स्वस्थ मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं और रोगी वृद्ध वर्षों घसिटते हैं। ये अनेक बातें अपने पीछे भौतिक कारणों के अतिरिक्त एक सत्ता का संकेत करती हैं और इस प्रकार का प्राप्त किया हुआ अनुभव सुदृढ़ और गंभीर होने पर, हमें रहस्यभावना प्रदान करता है। इन सभी को समझने, इन व्यापारों पर हँसने-रीझने, खीझने की शक्ति हमारे अन्तर्गत है जिसे हम उम परमशक्ति में सम्मन्विष्ट मानते हैं और बिखरे हुए विश्व के शक्ति, सौन्दर्य तथा अन्य गुणों के प्रतीकों के बीच एक

of the universe. It deepens man's sense of order in the self and expands it into universe, Thus even in intense action a calm aloofness is possible. Mysticism combines a strenuous moral life with profound peace of mind and a delicate sense of beauty or order." Theory and Art of mysticism by Dr. R. K. Mukerji

पूर्ण व्यक्ति की कल्पना करते हैं या उसका आभास अनुभव करते हैं। हृदय इन क्षण भंगुर स्वरूपों से अपना सम्बन्ध न जोड़ कर शाश्वत् सत्ता से अपना सम्बन्ध जोड़ने को आकुल हो उठता है और इस प्रकार रहस्यभावना का जन्म होता है।

रहस्यवादी कविता में परमात्मा के प्रति गम्भीर प्रेम व्यक्त होता है, किन्तु यह प्रेम परम्परागत विश्वास पर आधारित रूढ़ि को लिये हुए इतना नहीं होता, जितना कि आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का निजी और नवीन अनुभव लिये। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सबसे मधुर और अनुभूति सबसे तीखी होती है। अतः अधिकांश रहस्यवादी कविता में इसी सम्बन्ध का प्रकाशन होता है। रहस्यवादी प्रवृत्ति, रहस्यवादी दृष्टि अन्य प्रकार की कविता में भी होती है। हिन्दी काव्य की निर्गुण-भक्ति-धारा के अन्तर्गत कही जानेवाली कविता रहस्यवादी है, क्योंकि उसमें अवतार या साकार की भक्ति नहीं बरन्, निराकार एवं सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म के प्रति प्रेम-प्रकाशन हुआ है। एक बार जब रहस्यवादी को ईश्वर का अनुराग प्राप्त हो जाता है, तब विश्व की वस्तुएँ उसकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार के प्रकाश और गुणों से सम्पन्न दिखती हैं और सभी उस असीम शक्ति से सम्बन्धित जान पड़ती हैं। अथवा कभी-कभी सारा विश्व एक भ्रममय पथ पर अग्रसर होता जान पड़ता है और उसकी दृष्टि में ही सच्चा मार्ग दिखाई देता है। इस प्रकार रहस्यवादी दृष्टि और भावना के दो स्वरूप मिलते हैं:—पहला तो वह जिसमें व्यक्ति अपने विशेष अभ्यास और आत्मशुद्धि के कारण परमात्मा का अनुभव अपने अन्तर्गत करने को समर्थ होता है और उसे इस बात की पूरी चेतना रहती है कि वह एक सच्चे रास्ते पर है और सारा विश्व झूठे रास्ते पर जा रहा है। दूसरा वह है जिसमें रहस्यवादी सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा की शक्ति, प्रेम और सौन्दर्य से व्याप्त देखता है और वह स्वयं इनका अनुभव करता है। प्रथम भावना अधिक व्यक्तिगत अतएव अधिक तीखी है और दूसरी अधिक व्यापक और विशाल है।

हिन्दी कविता में दोनों प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं। कबीर, जायसी और मीरा रहस्यवादी कविता के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं और आधुनिक काल की कविता में भी इनका प्रभाव देखने में आता है। वर्तमान रहस्यवादी कविता में उपर्युक्त दोनों दृष्टियों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। मीरा पर कबीर का भी प्रभाव है और कृष्णभक्ति का भी। कृष्ण से व्यक्तिगत सम्बन्धानुभूति का प्रकाशन मधुर भाव के रूप में होने से इसमें रहस्यवादी प्रवृत्ति दिखलाई देती है।

कबीर की कविता में सर्वोत्कृष्ट एवं तीखी रहस्यभावना अपने सीधे और

स्वानुभूत ढंग पर प्रकाशित मिलती है। कबीर का उद्देश्य परमात्मा के प्रेम में उसी प्रकार सराबोर रहना था, जैसे एक पत्नी अपने पति के प्रेम में रहती है। कबीर स्वयं अपनी आत्मा को परमात्मा की पत्नी के रूप में मानते हैं और उनकी पवित्र बलवती आत्मा राम का प्रेम-सान्निध्य उसी प्रकार प्राप्त करती है जैसे कि एक पत्नी अपने पति का और इस प्रकार शाश्वत् आनन्द की धारा में बहती रहती है। अपनी इसी प्रेम-सम्बन्धी भावना की तीव्रता में कबीर ने सर्वोत्कृष्ट रहस्यात्मक कविता की सृष्टि की है। उनके गीत प्रेमानुभूति के आनन्द में पूर्ण-रूपेण घुले-मिले हैं जैसे इस प्रकार के गीतः—भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन ; प्रिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली आदि और इसी प्रकार परमात्मा से विलगता के कारण विरहानुभूति की भी गहरी भावना व्यक्त हुई है। इस प्रकार की कविता को हम 'मधुर भाव की भक्ति' के अन्तर्गत भी रख सकते हैं और इस प्रकार के पद कबीर की कविता में बहुत अधिक हैं।

दूसरी प्रकार के रहस्यवादी पद वे हैं जिनमें कबीर अपने भीतर अनहद नाद को सुनने अथवा ज्योतिर्विदु के दर्शन का आनन्द वर्णन करते हैं। यद्यपि इस प्रकार की कविता में हठयोग की अनेक क्रियाओं के द्योतक शब्द भी रहते हैं। और कबीर प्रायः इड़ा, पिगला सुषुम्ना-अनहद, आठ कमल, कुंडलिनी और छ चक्रों में ही बात करते हैं, फिर भी कबीर का रहस्यवादी योग वही है जहाँ वे योगिक अभ्यासों से प्राप्त स्वानुभूत आनन्द का वर्णन सुन्दर शब्दों और मधुर प्रतीकों में करते हैं। यह अनुभव अमृत में मग्न होने के समान है। कबीर कहते हैंः—

“गगन गरजि बरसै अमी, बाबर गहिर गंभीर ।

चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥”

कबीर ज्ञानी भक्तों में से हैं। ज्ञान के लिए वे अद्वैत दर्शन को स्वीकृत करते हैं और भक्ति के लिए मधुर भाव और योग में हठयोग से प्रभावित हैं। सूक्ष्म और पैनी दृष्टि रखनेवाले कबीर रुढ़िगत, नीरस, भक्ति करने-वालों के अन्धविश्वास और आत्मानुभवहीन क्रियाओं की तीव्र आलोचना करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर का अनवरत, शाश्वत् प्रेम प्राप्त करना है। अतः वह प्रत्येक पद पर इस बात को स्पष्ट करते चलते हैं कि साधन साधन ही हैं, इन्हें साध्य समझने का भ्रम न करना चाहिए। इसी आवेश में ही वे अजपा जाप और अनहद नाद की आनन्दपूर्ण अवस्थाओं की भी आलोचना करते हैं :—

“जाप मरै, अपजा मरै, अनहव हू मरि जाय ।

राम सनेही ना मरै, ताहि काल नहिं खाय ॥

अतः उनका उद्देश्य केवल ‘राम का स्नेह’ है । इसी को प्राप्त करने के अनेक प्रकार के साधन जुटाते हैं ।

कबीर की रहस्यभावना की तीसरी विशेषता आत्मानुभूत रूप में सीधे ढंग पर कथन है । यह जायसी की रहस्यभावना से भिन्न है जो कि रहस्य-भावना की स्वानुभूत दशा की ओर केवल संकेतमात्र करते हैं और मुख्य दृष्टि पद्मावत की कथा की ओर है । कबीर अपना रहस्यानुभव प्रथम पुरुष में ही वर्णन करते हैं और उनका ढंग सीधा और स्पष्ट है । कबीर सीधे ढंग से कहने की प्रेरणा में काव्य के कलात्मक पक्ष की भी परवाह नहीं करते । किन्तु फिर भी जो दुरुहता है वह दूसरे कारणों से है । कबीर जिस अनुभव का वर्णन करते हैं वह असंसारिक है अतः उसके प्रकाशन की कठिनाई के कारण ही यह दुरुहता है । जायसी को भी इसी से अन्योक्ति का सहारा लेना पड़ा । इस प्रकाशन की कठिनाई से कबीर को रहस्यवादी काव्यताओं में आई हुई चौथी विशेषता ‘प्रतीकमयी भाषा’ का प्रयोग है । परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव विलक्षण होता है जिसके प्रकाशन की असमर्थता सभी रहस्यवादियों ने प्रकट की है । * कबीर भी प्रायः जिसे ‘गूंगे का गुड़, गूंगे की शर्करा’ † के रूप

**“Mysticism implies a silent enjoyment of God. It is in this sense that mystical experience has often been regarded as ineffable. It is not without reason that Plato in his 7th Epistle, which is now regarded as his own genuine composition, says: “There is no writing of mine on this subject, nor ever shall be, It is not capable of expression like other branches of study..... If I thought these things could be adequately written down and stated to the world, what finer occupation could I have had in life than to write what could be of great service to mankind.”

Page 1 Preface. Indian Mysticism by R. D. Rande

† “आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछे बात ।

सो गूंगा गुड़ खाय कै, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ७३ कबीर वचनावली ।

“अकथ कहानी प्रेम की कछु, कही न जाई ।

गूंगे केरी सरकरा बंटे मुसकाई ॥” कबीर का रहस्यवाद, ४५ पृष्ठ ।

में मानते वा कहते आये हैं। कबीर ने इस अनुभव को प्रकट करने का उद्योग किया है; जगत की भाषा में जगत को अपना अनुभव बताया है, अतः उन्होंने उस अनुभव के समकक्ष जो भी लौकिक अनुभव पहुँचते हैं उनके द्वारा अपने अनुभव को व्यक्त किया है। उन्होंने इस प्रकार साम्य रखनेवाले अनुभवों को चुना है, जिनके द्वारा अलौकिक अनुभव का वे आभास दे सकते हैं। अतः बहुतेरे शब्द अलौकिक अर्थों के प्रतीक बन गये हैं। रूपक तथा अन्योक्ति का प्रयोग कबीर प्रायः करते हैं और रूपकों के द्वारा कभी-कभी काव्यात्मक सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है।

“रे मन समुक्ति के लादि लदनियाँ” “ऊधौ गगन घटा घहरानी” आदि के अन्तर्गत मन का सौदागर और साधक का खेतिहर के रूप में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दों जैसे चुनरी (शरीर के लिए) हंस (आत्मा के लिए) भँवरा (मन के लिए) भीजना (आनन्द के अनुभव के लिए) आदि शब्दों का प्रयोग खूब हुआ है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने ग्रन्थ ‘कबीर’ में एक लम्बी सूची इस प्रकार के शब्दों की देते हुए कहते हैं :—

“कबीरदास तथा अन्य परवर्ती सन्तों की उलटबासियाँ और योगशास्त्री रूपकों को समझने के उपमान (या संकेत) काम के सिद्ध हुए हैं। नीचे उनका संग्रह दिया जाता है।”*

कुछ शब्द हैं जैसे:—

सुषुम्ना—शून्य पदवी (शून्य मार्ग), राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, स्मशान
ब्रह्मनाडी, मध्य मार्ग, सरस्वती।

इड़ा—उलटीगंगा, ब्रह्माण्ड में चढ़ाई, श्वासा, संसार मुखी रागरूपी गंगा का
ब्रह्ममुखी होना।

संसार—समुद्र,

मन—शश, भौरा, चकवा

इस प्रकार—रूपक द्वारा जहाँ आत्मानुभूत भाव को सुन्दर बनाया है, वहीं शास्त्रीय शब्दों के व्यावहारिक प्रतीक ढूँढ़ कर उनको अधिक मनोहारी कर दिया है।

कबीर की रहस्यभावना की पाँचवीं विशेषता आत्मा के अन्तर्गत ही परमात्मा की खोज पर जोर है। यह शरीर दश द्वारों का भवन है और इस भवन के भीतर परमात्मा का निवास है। अतः हम परमात्मा को अपने ही भीतर अपने भवन के अन्तर्गत ही ढूँढ़ सकते हैं। बाहर मन्दिर, मस्जिद आदि में

* कबीर, पृ० ८३, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

उसको ढूँढ़ना व्यर्थ है। कबीर परमात्मा को बाहर देखने में विश्वास नहीं करते हैं। उनके विचार से सम्पूर्ण बाह्य संसार माया का रूप है जो मनुष्य के ध्यान को अन्य बातों में बाँटाकर परमात्मा की प्राप्ति के पथ से अलग करता है। वे कभी भी वसन्त कालीन फूलों की मनोहारी-शोभा, वर्षा के सरस दृश्यों के अन्तर्गत परमात्मा को खोजने का उपदेश नहीं देते। कबीर इन सभी को क्षणभंगुर मानते हैं; अतः वे ध्यान देने योग्य नहीं हैं। वे बड़ी व्यग्रता के साथ परमात्मा को अपने शरीर के भीतर ढूँढ़ने की बात कहते हैं :—

‘कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूँढ़े बन माँहि ।

ऐसे घट में पीव है, दुनिया जाने नाँहि ॥”

इसी प्रकार

“मों कौ कहाँ ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में ।

ना में मन्दिर ना में मस्जिद, ना काबा कैलास में ॥”

.....इत्यादि ।

और बाहर जाना व्यर्थ है :—

“बागों ना जा रे, तेरी काया में गुलज़ार ।”

.....इत्यादि ।

इस भावना से कबीर का अपनी आत्मा पर सुदृढ़ विश्वास बढ़ता है। कबीर का आत्मानुभव बहुत ही अधिक था और परमात्मा की अपने अन्तर में खोज के कारण वह एक शाश्वत चेतना प्राप्त कर सके थे और परमात्मा के सान्निध्य का अटूट आनन्द भी उन्हें मिला था। ये सभी बातें मिल कर कबीर की रहस्यभावना को दार्शनिक दृष्टि से सुदृढ़, शास्त्रीय विचार से पक्की और आत्मानुभूति द्वारा सरस बनाती हैं। कबीर का रहस्यवाद सीधा, सहज और स्वानुभूत है।

जायसी की रहस्यभावना

जायसी की रहस्यात्मक दृष्टि कबीर की दृष्टि से भिन्नता रखती है। जायसी के रहस्यवाद पर मायावाद का प्रभाव नहीं है, वरन् वह इस्लाम के एकेश्वरवाद से प्रभावित है। प्रकृति और बाह्य संसार कबीर की भाँति जायसी के लिए माया नहीं है, वरन् परमात्मा का आभास है। उसकी इच्छा और चेष्टा का प्रतिबिम्ब है। प्रकृति की सुन्दरता में परमात्मा की सुन्दरता छायी है और सभी प्रकृति परमात्मा के आनन्ददायी सम्पर्क में मग्न होने का प्रयत्न कर रही है :—

“सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरीहि लेइ ।

पांव छुवैं मगु पावों, इहि मिस लहरें लेइ ॥”

अपने इस प्रयत्न में प्रकृति के पदार्थ, प्रकृति के तत्त्व मनुष्य के समान ही हैं जो कि स्वयं परमात्मा से बिलगाव का अनुभव करते हैं और उसके प्रभाव से प्रभावित हैं:—

“राते बिम्ब भीजि तेहि लोहू । परवर पाक फाट हिय गोहूँ ।”

तथा :—

“नयनन बान बेधि ओहि राखी । साखी ठाढ़ बेहि सब साखी ।”

इत्यादि ।

जायसी की रहस्यभावना, प्रकृति के भावों का व्यापक स्पन्दन देखती है और उन्हीं भावों के चित्रण का प्रयत्न इनकी रहस्यात्मक कविता का प्राण है । इस प्रकार जायसी को हम कबीर की भाँति दार्शनिक रहस्यवादी अथवा मधुर भाव के भक्त नहीं कह सकते, वे तो प्रकृति के रहस्यवादी हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रकृति सुन्दरता, इच्छा, भावनाओं और चेतना से उसी प्रकार युक्त है जैसे कि मनुष्य है । जायसी प्रकृति को केवल भावों से भरी हुई ही नहीं देखते वरन् स्वयं भी उन भावों से प्रभावित होते हैं । प्रकृति मनुष्य की चिरन्तन सहचरी है, अतः मनुष्य के भावों का उस पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है । मनुष्य के आनन्दोत्सव में वह पुलकित और प्रसन्न तथा उसके दुख में गहरे विषाद से घिरी रहती है । कुछ इसी प्रकार की भावना उस परम्परा के आधार में भी है जिसमें सुख में प्रकृति सुखवर्धक और दुख में दुख को बढ़ाने वाली चित्रित की जाती है । जिसे शास्त्रीय शब्दों में उद्दीपन विभाव कहते हैं और प्रायः कवि अपने वर्णन में उसका समावेश करते हैं । पर वहाँ प्रकृति के तत्त्व तथा व्यापार उत्प्रेक्षापूर्वक वैसे चित्रित किये गये हैं, यहाँ जायसी उसे यथार्थ अनुभूतियों का भंडार ही मानते हैं । यह जायसी के रहस्यवाद की एक बड़ी विशेषता है ।

इस प्रकार की जायसी की भावुकता बड़ी व्यापक और विशद प्रभावशाली है । यह भावना कबीर की भावना से मौलिक विभिन्नता उपस्थित करती है, जो कि सत्य के दर्शन केवल मन के भीतर ही करते हैं नित्य-प्रति, प्रतिपल बदलने वाले प्रकृति के विस्तृत सौन्दर्यशाली दृश्यों में नहीं । इस प्रकार कबीर के व्यक्तिगत तीखे आत्मानुभव के विपरीत जायसी में हमें सार्वभौम भावात्मकता और प्रकृति-प्रेम मिलता है, जो उनको अधिक विस्तृत हृदय का, स्नेही और भावुक व्यक्ति के रूप में प्रगट करता है और जायसी के रहस्यवाद में काव्यात्मक तथ्यों को प्रचुरता के साथ उपस्थित होने का अवसर देता है ।

इसी के साथ ही साथ हम देखते हैं कि जायसी का प्रयत्न कबीर की भाँति आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध सीधे ढंग से व्यक्त करना उतना नहीं, जितना आत्मा और विश्व का तथा विश्व और विश्वात्मा का सामंजस्य ढूँढ़ना है। यह प्रवृत्ति उन्हें व्यापक रहस्यद्रष्टा बना देती है। रहस्य-भावना के अन्तर्गत आत्मा और विश्व के अन्तर्गत सामंजस्य स्थापित करने का यह भाव विशेष रूप से रहता है, वरन् कोई-कोई विद्वान् तो इसी सामंजस्य ढूँढ़ने की कला को ही रहस्यवाद कहते हैं। * जायसी का प्रयास सामंजस्य-भावना को ही स्थापित करना है। पद्मावत ग्रंथ में इसके साथ-साथ प्रमुख रूप से पद्मावती की कथा भी चलती है। अतः इस भावना की ओर संकेतात्मक निर्देश है। जो स्पष्ट है और कला की दृष्टि से कथानक के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं। इन निर्देशों के कुछ उदाहरण देखिये :—

पद्मावती श्री पंचमी के अवसर पर उपवन में स्थित मन्दिर में पूजा के हेतु गई, जहाँ पर रतनसेन पद्मावती की प्रतीक्षा कर रहा था। पद्मावती पर दृष्टि पड़ते ही वह चेतनाहीन हो गया और न उससे मिल सका न बात कर सका। जब वह फिर सचेत हुआ तब वह उसके सौन्दर्य की व्यापकता सभी जगह देखता हुआ कहता है :—

“आइ बसन्त जो छपि रहा, होइ फूलन के भेस।

केहि विधि पावों भौर होइ, कौन गुरु उपदेश ॥”

यह पद पद्मावती और रतनसेन का वर्णन करता हुआ साधक की परमात्मा से मिलन और बिछुड़ जाने पर फिर प्रयत्नशील होने की दशा पर प्रकाश डालता है। बसन्त, फूल, भौरा और गुरु शब्द, पद्मावती, प्रकृति, रतनसेन और हीरामन पर उतनाही लागू होता है, जितना परमात्मा, प्रकृति, साधक और गुरु पर। इस प्रकार के संकेत प्रायः जायसी के पद्मावत में मिलते हैं। कुछ और देखिये :—

“Mysticism is the art of finding harmonious relationship, to the whole reality which man envisages. Humanly speaking, man seeks to find peace with self and this universe. Mystical intuition establishes a perfect harmony of being and certainty of universe. It deepens man's sense of order in the self and expands it into the universe.”

P. 260, Theory and Art of Mysticism by Dr. R. K. Mukerji (as quoted before)

“बेधि रहा जग वासना, परिमल मेढ सुगन्ध ।

तेहि अरघानि भौर सब, लुबुधे तर्जहि न गंध ॥ *

इसमें पद्मावती के सौन्दर्य के आकर्षण का प्रभाव अनेक राजाओं पर दिखाने के साथ-साथ ईश्वर का प्रकृति में तथा विश्व में व्याप्त सौन्दर्य का प्रभाव साधक व शुद्धात्मा पर दिखाना भी इष्ट है। ऐसे ही और उदाहरण हैं:—

“भौर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ ।

घुन जो हियाव न कँ सका, भूर काठ तस छाइ ॥” १० †

“दारिउ बाख लेइ रस, ग्राम सदाफर डार ।

हरियर तन सुअटा कर, जो अस चाखनहार ॥” ६ ‡

“पवन भकोरे होइ हरष, लागे सीतल बास ।

घनि जानें यह पवन हैं, पवन सो अपने बास ॥” ७ ::

“गिरि समुद्र ससि मेघ रवि, सहि न सकहि वह आगि ।

मुहमद सती सराहिये, जरै जो अस पिउ लागि ॥” १५ ८

फिर प्रकृति के सौन्दर्य का चरम सौन्दर्यमय से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न देखिये, जो जायसी के पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन में स्पष्ट है ।

“नयन जो देखा कँवल भा, निर्मल नीर सरीर ।

हंसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नगहीर ॥”

नीचे के दोहे में हठयोगी साधना की ओर संकेत है, जिसमें साधक की, तुलना समुद्र में डुबकी लगाने वाले ‘मरजीवा’ से की गई है। साधक हृदय के तलाव में परमात्मा रूप नग को ढूँढ़ने के लिए डुबकी लगाते हैं:—

“नग अमोल तेहि तालहि, दिनिहि बरै जस दीप ।

जो मरजिया होइ तहाँ, सो पावै वह सीप ॥”

जायसी के ‘भावात्मक रहस्यवाद’ में प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है। व्यक्तिगत प्रेम के अन्तर्गत धीरे-धीरे आत्मत्याग बढ़ता जाता है और प्रेम की बहुत ऊँची भावना आती जाती है। भावात्मक रहस्यवाद पर एक विद्वान् का कथन देखिये:—“भावात्मक रहस्यवाद इस प्रकार व्यक्तिगत प्रेम से प्रारम्भ

* पृ० ५५, जायसी ग्रन्थावली ।

† पृ० ७६ जा० ग्र० ।

‡ पृ० १६६ जा० ग्र० ।

:: पृ० १६६ जा० ग्र० ।

८ पृ० १७८ जा० ग्र० ।

होता है। लौकिक प्रियतम मानवस्वभाव के नित्यप्रति के व्यवहार से बहुत ऊँचे उठ जाता है और सौन्दर्यात्मक अनुभूति या रमणीयता का आनन्द उकसाता है और बाद को आनन्ददायी ध्यान का प्रतीक बन जाता है। धीरे-धीरे यह प्रतीक लौकिकता खो देता है और प्रकाश से आभूषित ऐसा सौन्दर्य ग्रहण करता है जो कि कभी भी पृथ्वी और समुद्र पर नहीं था। वह अब भी प्रिय है, किन्तु लौकिक प्रेमी और प्रिय का अब कायापलट हो गया है। मैं अकेला प्रेमी और तू अकेला सुन्दर है। और यदि तत्त्वतः सभी सौन्दर्य एक है तो तू ही अकेले सुन्दर है और यदि सभी प्रेम एक है तो मैं ही अकेला प्रेमी हूँ।”*

यह प्रेमी की भावना रह जाती है। इस भावना का दर्शन हमें आधुनिक हिन्दी काव्य के अन्तर्गत भी होता है। जायसी में यद्यपि व्यक्तिगत रहस्य-भावना के दर्शन नहीं होते, फिर भी भावात्मकता और प्रेम का दर्शन हमें बड़ी उच्च कोटि का मिलता है। रतनसेन और पद्मावती के सम्मिलन के रूप में इसी प्रकार की भावना व्यक्त हुई है। रतनसेन सौन्दर्य से आकृष्ट होता है और धीरे-धीरे त्याग के पथ पर बढ़ता हुआ सच्चे प्रेम के उपासक के समान जीवन भी समर्पण करने को उद्यत होता है और अन्ततः अनेक बाधाओं को भेलता हुआ उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। रहस्य की चेतना के अन्तर्गत प्रेम और सौन्दर्य का भेद नहीं रहता है। प्रिय ही सबसे बढ़कर सौन्दर्यशाली है।

यह अब भर जाता है। जायसी जहाँ एक ओर पद्मावती के चरमसौन्दर्य का वर्णन करते हैं, वहाँ ही उसके प्रति साधक रूप में रतनसेन के अटूट और

* “Emotional mysticism thus begins with personal affection. The earthly beloved becomes too good for human nature's daily food arouses aesthetic delight and the subject and later the symbol of aesthetic contemplation. Gradually the symbol empties itself of earthly associations and has a glorious vision of beauty bedecked with light that never was on sea and land. It is still the beloved, but both the earthly lover and the beloved are now transformed. I am the lover and thou art the beautiful. If all the beauties of the universe are in essence one, Thou art the one Beautiful. As all love is in essence one, I am the one lover.”

P. 114, Theory and Art of Mysticism, by Dr. R. K. Mukerji

गंभीर प्रेम का भी चित्रण है। इस प्रकार की रहस्यभावना में उत्कृष्टतम प्रेम का वर्णन ही एक प्रधान विशेषता है। उस प्रेम की दशा के अन्तर्गत साधक किस प्रकार की यातना सहता है, यह नीचे की पंक्तियों से स्पष्ट है:—

“मुहमब चिनगी प्रेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।

धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अंसि अगिन समाइ ॥”

इस प्रेममार्गी साधक की परीक्षा भी बड़ी कठिन होती है। पूर्ण आत्म-त्याग ही उसकी सफलता का प्रमाण है। कबीर ने भी कहा है:—

“सोस उतारें भुँइ धरें, तापर राखैं पाँय”

तब कहीं प्रेमी प्रिय से भेंट करने की सामर्थ्य पा सकता है। पद्मावती की भी रतनसेन की प्रेम-परीक्षा उसी कोटि की है। वह कहती है:—

“हैं रानी पद्मावती, सात सरग पर बास।

हाथ चढ़ौ मैं तेहि कै, प्रथम करै अपनास ॥”

किन्तु जब प्रेमी उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है; अनेक यातनाओं के पार जाकर जब वह अपने को मिटा कर सर्वत्र प्रिय का ही रूप दर्शन करता है, तब तो प्रिय भी प्रेमी के प्रति सहानुभूति ही नहीं, अनुराग रखने लगता है। पद्मावती रतनसेन की साधना सफल होने और त्याग की चरमसीमा पर पहुँचने की अवस्था में कहती है:—

“तुम जिउ, मैं तन जौ लहि मया। कहँ जो जीव करै सो क्या ॥

जौ सूरज सिर ऊपर, तौ रे कँवल सिर छात।

नाहि त भरे सरोवर, सूखे पुरइन पात ॥”

प्रिय की इसी मनोवृत्ति के साथ ही जायसी के प्रेममय भावात्मक रहस्य भावना की सफलता है।

इसके अतिरिक्त जायसी का रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद की भाँति अनेक हठयोग की सैद्धान्तिक व परम्परागत शब्दावली से युक्त नहीं है। यद्यपि कहीं-कहीं उन्होंने भी कयागढ़, कँवल, सूर्य-चन्द्र आदि हठयोग के शब्दों का प्रतीक रूप में प्रयोग किया है, परन्तु ये शब्द हमारा ध्यान न आकृष्ट ही करते हैं और न प्रवाह में बाधा ही पहुँचाते हैं और रहस्यात्मक अनुभव का प्रकाशन बड़ी सरलता, स्वाभाविकता और सजावट के साथ चलता रहता है। पद्मावती की कथा में जायसी का प्रयास रहस्यवादी साधक की साधना

और सिद्धि का वर्णन है और इसके साथ ही साथ आराध्य की मनोवृत्ति का भी कल्पनागत उद्घाटन है। पद्मावती, रतनसेन, अलाउद्दीन, सुआ आदि कहानी के पात्र केवल जनसाधारण में प्रचारार्थ बनाये गये हैं। यथार्थ उद्देश्य प्रेमी साधक के अनुभवों का प्रकाशन ही है, जो कहानी के अन्त में अन्योक्ति को खोलने पर पूरा प्रकट हो जाता है :—

“तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल बुधि पदमनि चीन्हा ।

गुरू सुआ जेहि पंथ लखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥

नागमती दुनिया कर धंधा । पावा सोइ न जेहि चित बंधा ।

राघव चतन सोइ शैतानू । माया अलाउदीं सुलतानू ॥”

इस प्रकार जायसी अपने प्रेम-भावना भरे अतिशयोक्तिपूर्ण, काव्यात्मक एवं रमणीय वर्णन-द्वारा हमारी भावनाओं को अधिक मोहित कर लेते हैं, जितना कि कबीर अपने आनन्द के विश्लेषण-द्वारा नहीं कर पाते। जायसी का विशाल दृष्टिकोण, ऊँची कल्पना, तीखी और गहरी भावुकता, विशद और विस्तृत वर्णन तथा प्रभावशाली चित्रण के सहयोग से जो प्रभाव डालते हैं वह कबीर अपने तीव्र और गंभीर रहस्यात्मक अनुभव के विश्लेषण, दार्शनिक दृष्टिकोण के द्वारा नहीं। क्योंकि कबीर का प्रकाशन हठयोग के शब्दों से भरपूर है। किन्तु कबीर ने प्रगीतात्मक प्रवृत्ति और संगीत के प्रभाव के कारण अपने रहस्यात्मक गीतों को स्मरणीय बना दिया है। कबीर की साखी, पद और पंक्तियाँ जहाँ साधारण जनो की जिह्वा पर नाचती रहती हैं, वहाँ जायसी की पूर्ण पद्मावती की प्रेम कथा ही प्रचार पा सकी है और प्रचलित कहानी रहस्यात्मक भावना से सर्वथा मुक्त है। प्रचार की दृष्टि से कबीर की रहस्यभावना का प्रभाव अधिक है, जायसी रहस्यवादी उतने नहीं जितने कवि हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत रहस्यात्मक अनुभव और प्रचार व प्रभाव दोनों के कारण रहस्यभावना के क्षेत्र में कबीर ऊँचे रहते हैं, यद्यपि भावुकता और काव्य की दृष्टि से जायसी की रचना अधिक रमणीय है।

कबीर और जायसी दोनों ही हिन्दी काव्य की रहस्यभावना के प्रतिनिधि कवि हैं और उनके इस अध्ययन-द्वारा हिन्दी की प्रमुख रहस्यधारा का परिचय दिया गया है। मीरा की रहस्यभावना सगुण भक्ति और रहस्यभावना दोनों को लिए है। वे कृष्ण की भक्ति में व्यक्तिगत रूप से तन्मय हैं और अपने को कृष्ण की स्त्री के रूप में मानती हैं, जिसमें माधुर्य भक्ति का विशेष अवकाश है ; किन्तु व्यक्तिगत विरह और सम्मिलन के अनुभवों का समावेश

होने के कारण वह रहस्यभावना के भी समीप आ जाती है। मीरा की रहस्य-भावना में प्रेम की भावात्मक अभिव्यक्ति ही देखने को मिलती है जिसमें काव्य का सुन्दर रूप है, किन्तु हिन्दी काव्य की रहस्यवादी भावना के प्रतीक के रूप में मीरा का स्थान नगण्य है। इसके कबीर और जायसी दोही सुदृढ़ स्तम्भ हैं जिनके अनेक अन्य अनुयायी उस भावना को आधुनिक युग तक अधिक विकास देते हैं।

हिन्दी काव्य में प्रगीतात्मकता

और उसके विविध रूप

प्रगीतात्मकता काव्य की एक प्रधान विशेषता है। प्रगीतात्मकता की मनोदशा में कवि अपने व्यक्तित्व के सबसे समीप होता है। इसके अन्तर्गत मनोभावना के साथ-साथ ही शैली अर्थात् कथन का ढंग भी विशेष महत्वपूर्ण है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत कवि संगीतमयी, मधुर रचना के सहारे अपनी निजी अनुभूतियों का प्रकाशन करता है, वह अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करता तथा अपने स्मरणीय क्षणों का सजीव चित्रण करता है। उसकी कल्पना या तो अपने ही अभ्यन्तर में डूब कर विश्व के सामने अपनी भावनाओं और अनुभूतियों का भंडार खोलती है अथवा वह आकाश में उड़कर प्रकृति के बीच विचरण कर प्रकृति के पदार्थों में आत्मीयता का अनुभव करती है और उन्हीं में छिपी भावनाओं को प्रगट करती है। कवि के सचेतन व्यक्तित्व का अपनी कल्पना पर पूरा और सुदृढ़ अधिकार रहता है और वह प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना को अपनी व्यक्तिगत भावना के रंग से रंगी हुई देखता है। जो कुछ भी वह देखता है उसमें आत्मीयता का अनुभव करता है और वह जो कुछ भी लिखता है, गाता है वह उसकी हृदय से निकलती हुई स्वानुभूति से स्पंदित स्वरलहरी होती है। इस प्रवृत्ति में कवि भावों में तन्सय होकर लिखता है ; इसी कारण से प्रगीतात्मक काव्य सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। कवि अपने दुख-सुख के अनुभवों को सीधे ढंग से अपना कह कर व्यक्त करता है ; किन्तु वे उसके होते हुए भी सारी मानवता के होते हैं। क्योंकि तीव्र सात्विक अनुभूति की अवस्था में एक सहृदय मानव दूसरे से अधिक भिन्न नहीं होता है।

जब प्रगीत भावना काम करती है, तब कवि अपनी बातें कहने के लिए विकल हो उठता है। बिना प्रकाशित किये उसकी अनुभूति छटपटाती है ; किसी परिस्थितिबश यदि वह उन्हें मौन रूप से पिये रहता है, तो दूसरे समय वे उसी या दूसरे रूप में फूट पड़ती हैं। इस भावना का आवेश तब समझना

चाहिए जब कि बहुत अधिक देर तक ध्यानमग्न न रहकर बराबर एक के बाद दूसरे भाव निकलते जाते हैं और उनके निकल जाने पर एक हल्केपन की स्वस्थता और शान्ति प्राप्त होती है ; किन्तु बिना उनको प्रगट किये उसे चैन नहीं । यही मनोवृत्तियाँ जब समय पर प्रकाशनन पाकर भीतर ही जमती जाती हैं तो एक स्थायी मनोवृत्ति को जन्म देती हैं ।

प्रगीतात्मक काव्य में भावानुभूति बड़ी ही जोरदार होती है । इसके अतिरिक्त कवि अपने भाव बहुधा प्रथम पुरुष में अपने ही मुख से सीधे ढंग से व्यक्त करता है । अन्य पात्रों के द्वारा भावप्रकाशन उतना अभीष्ट नहीं होता है परन्तु नाट्य काव्य में जो कुछ भी कवि कहता है, वह पात्रों के द्वारा ही कहता है । नाट्य काव्य में कवि अपनी कल्पना-द्वारा पात्रों की सृष्टि करता है और उनमें से प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व डाल कर, अपना व्यक्तित्व छिपा देता है और पात्र ही भाव-प्रकाशन करता है । प्रबन्ध काव्य में कवि को कथाकार के रूप में भी आना पड़ता है और नाट्य काव्य के पात्रों के रूप में भी, जिसमें दोनों ही रूपों में कल्पना की सजगता विशेष रूप से आवश्यक है ।

प्रबन्ध काव्य में कवि को कहीं तो क्या का पात्र बनना पड़ता है और कहीं दर्शक ; इस प्रकार दोनों ही दशाओं में उसे अपने व्यक्तित्व को घुला देना होता है ; इनमें उसे अपने को दूर छोड़कर पात्र और दर्शक की परिस्थितियों में अपने को डालकर अपनी परिस्थितियों, अपनी भावनाओं और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः त्याग देना होता है । इसी 'आत्मविस्मृति' के भीतर ही प्रगीतकाव्य तथा अन्य प्रकार के काव्यों का अन्तर छिपा रहता है । जहाँ नाट्य और प्रबन्ध काव्य में आत्मविस्मृति, कवि के लिए प्रधान गुण और प्रमुख आवश्यकता है, वहाँ प्रगीतात्मक काव्य में प्रखर "आत्म-चेतना" काम करती है । कवि, श्रोता, पाठक और विश्व को अपने विषय में बताता है, संसार के विषय में नहीं । नाट्य और प्रबन्ध काव्य में कवि निरपेक्ष और तटस्थ कलाकार, है पर प्रगीत काव्य में वह स्पर्शमात्र से भँकृत हो जानेवाला गायक है, कोमल भावनाओं से भरा तनिक छेड़ने से ही हँसने और रोनेवाला व्यक्ति है । वह भावुक है । वह चाहे स्वच्छन्द प्रकृति का ही वर्णन क्यों न करे, उसमें अपनी भावनाएँ भरी देखता है । सम्पूर्ण जगत् मानों उसी की बात कहता है । प्रबन्ध और नाट्य काव्यों में यदि कवि अपनी बात भी कहता है तो दूसरे के मुख से, अतः कवि का व्यक्तित्व छिपा और चेतना कुंठित रहती है ; किन्तु प्रगीत काव्य में यह बात नहीं है ।

इसमें तो अपना ही और अपनीही परिस्थितियों से उत्पन्न भाव वह प्रकट करता है; उसकी व्यक्तिगत भावना इतनी व्यापक होती है कि उसके अन्तर्गत सभी अपनी भावना का प्रतिबिम्ब पा लेते हैं। उसकी विशेषता तीव्रता में रहती है।

कुछ कवि ऐसे होते हैं जो प्रबन्ध और प्रगीत दोनों क्षेत्रों में बड़े कुशल और सिद्धहस्त होते हैं। हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास में हम यही बात देखते हैं। वे अपने ग्रन्थ “रामचरितमानस” में तो प्रबन्ध क्षेत्र के विधाता हैं। उसमें तुलसी की अपनी भावना क्या है, यह बताना सोच-विचार के बाद ही संभव है। वे अपने सभी भाव रामचरितमानस के पात्रों के भाव बनाकर ही रखते हैं; वरन् यह कहना चाहिए कि वे उन्हीं के उपयुक्त भावों में अपने भाव भी घुला-मिला देते हैं। उसमें वे कथाकार और अभिनेता दोनों ही हैं; वे एक तटस्थ कलाकार हैं। किन्तु अपनी “विनय पत्रिका” में वे प्रगीत कवि हैं। उनकी अपनी भावनाओं से हम तुलसी के व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव, प्रवृत्ति एक-एक को परखते चलते हैं। दूसरे रूप में हम कह सकते हैं कि उसमें कवि स्वयं ही एक पात्र है और वही अकेला पात्र है। एक प्रबन्ध काव्य में या तो हम कवि की कला की प्रशंसा करते हैं या उसकी त्रुटियों की निन्दा करते हैं अथवा विश्व की, जीवन की समस्याओं में सुलभते-उलभते हैं; पर प्रगीत काव्य में हम कवि के साथ सहानुभूति रखते हैं, उसके लिए रोते हैं, उसके प्रति दया करते हैं, परिस्थितियों या भाग्य को कोसते हैं, उसे प्यार करते हैं अथवा उससे घृणा करते हैं। प्रबन्धकाव्य में कवि, समाज और पात्रों से ऊँचा उठ जाता है, वह उसका विधायक है, निर्माता है, पर प्रगीत काव्य में पाठक, और श्रोता कवि से ऊँचे होता है। हम उसकी विभिन्न मनोवृत्तियों, अनेक अन्तर्दशाओं का निरीक्षण और अध्ययन करते हैं। अतः प्रगीत में व्यक्तिगत भावना ही प्रधान विशेषता है।

इस प्रकार प्रगीत काव्य की एक अलग कोटि ही समझी जानी चाहिए। उसे अन्य काव्य कोटियों से भिन्न करनेवाली विशेषताएँ नीचे लिखी जाती हैं :—

(१) यह स्वानुभूति-प्रधान होता है * अर्थात् इसके अन्तर्गत कवि

*“In direct contrast to epic poetry we have our second type, that namely of lyrical poetry. Its content is that within ourselves, the ideal world, the contemplative or emotional life of soul which instead of following up action remains at home with itself in its

अपने आन्तरिक भावों, इच्छाओं, उत्साह, प्रेरणा, विश्वास, सन्तोष, समर्पण आदि को सीधे ढंग से व्यक्त करता है ।

(२) एक प्रगीत, प्रबन्ध या नाट्य काव्य की भाँति जातीय * या राष्ट्रीय विशेषता को प्रकट नहीं कर सकता है ।

own ideal realm and consequently is able to accept self-expression as its unique and indeed final end. Here we have, therefore, no substantive totality, self evolved as external fact or event, but the express outlook, emotion and observation of the individual's self-introspective life shares in what is substantive and actual therein as its own, as its passion, mood or reflection ; we have the birth of its own loins. Such a fulfilment and ideal process is not adequately realised in a mechanical delivery such as we saw conceded as appropriate to epic poetry. On the contrary the single must give utterance to the ideas and views of lyrical art as though they were the expression of his own soul, his own emotions. And in as much as it is the innermost world which the delicacy has to animate, the expression of it will above all lean to the musical features of poetical reproduction, whether permitted as an embellishment or a necessity we shall here meet inter varied modulations of the voice, either in recitation or song, and the accompaniment of musical instrument."

Hegels philosophy of Fine Arts, vol. IV, P. 103.

"The subjective type of poetry is bound to find its own forms, in a province of its own, wholly independent of Epio. In other words, the human spirit descends from the objectivity of the object into its own private domains, it peers into its particular conscious-life; it endeavours to satisfy the desire to reproduce the presence and reality of that. as displayed in souls, in the experience of heart and reflected idea, and in doing so to unfold the content and activity of the personal life rather than the actual presence of the external fact.

Hegel's P. F. A., vol. IV, P. 196.

*"There is, however, this essential distinction, that whereas, the Epos combines in one and the same work the spirit of a people in all its breadth and in its actual deed and fashion, the

(३) पूरी कविता भर में एक ही मर्मस्पर्शी भावना रहती है ।

(४) यह कविता वाद्ययंत्रों के साथ गेय होती है ।

हिन्दी काव्य का बहुत बड़ा भाग प्रगीतात्मक है । पुरानी तथा नवीन दोनों प्रकार की कविताओं में स्वभावगत विशेषता के रूप में प्रगीतात्मकता देखने को मिलती है । यद्यपि इस प्रवृत्ति का विकास आधुनिक हिन्दी काव्य में ही विशेष व्यापक रूप से हुआ है, पर प्राचीन हिन्दी काव्य में भी यह प्रवृत्ति प्रमुखतया देखने को मिलती है । इस कारण कुछ लोगों का यह विचार कि प्रगीतात्मकता हिन्दी काव्य का आधुनिक विकास है, सत्य नहीं । आधुनिक काल के पूर्व हिन्दी कविता में प्रगीतात्मक प्रवृत्ति पूर्णतः धुलो-मिली है । नाट्यकाव्य के अभाव में ही मानों हिन्दी में प्रगीतात्मकता का प्रवाह इतना प्रबल है । यहाँ तक कि हम कह सकते हैं कि आजकल प्रचलित प्रगीतों के अनेक स्वरूप, मूलरूप में पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में उपस्थित थे, और उनका नया रूप नये प्रभावों के कारण है, नये बीज के कारण नहीं ।

हिन्दी प्रगीतों के विविध रूप

प्रगीतों की रूप-विविधता का विस्तार उतना ही अधिक हो सकता है जितना कि मानव भावों का । मनुष्य के आन्तरिक जीवन की एक-एक भावना प्रगीत काव्य के लिए उपयुक्त विषय बनने की क्षमता रखती है, फिर भी किसी जातिविशेष की परम्परा और विश्वासों के आधार पर हम देखते हैं कि एक भाषा के प्रगीतों के स्वरूप दूसरी भाषा के प्रगीतों के स्वरूप से भिन्न होते हैं, यद्यपि मौलिक तत्त्व एक ही रहते हैं । उदाहरणार्थ अंग्रेजी साहित्य में हमें 'एलेजी' (शोकगीति) प्रगीत का एक भेद मिलता है जिसे कि हम पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में इसलिए नहीं पाते हैं कि भारतीय, संसार की भ्रमभंगरता, देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता पर विश्वास करते हैं । यह विश्वास दार्शनिक तथ्य के रूप में उन्हें मिला है । अतः कवि को व्यक्ति के सरीस्वत

more definite content of the lyrical, limits itself to one particular aspect, or at least is unable successfully to attain to the explicit completeness and exposition which the Epos ought at least to possess. The entire wealth of lyrical poetry in a nation, may, therefore, no doubt embrace the collective exuberance of national interest, idea and purpose; but it is not the single lyrical poem that can do this."

Hegel's P. F. A., vol. IV, P. 196.

पर पछसावे का अवसर नहीं क्योंकि अधिकांश वह उसे सांसारिक बंधनों से मुक्त होना समझता है ।[†] इसी प्रकार शुद्ध प्रेम-प्रगीत भी हिन्दी में अंग्रेजी के प्रेम-प्रगीत (Love lyrics) से भिन्नता रखते हैं । प्रेम-प्रगीतों में भी हिन्दी का कवि उन्हें ईश्वराभिमुखी कर देता है, चाहे उसका प्रारम्भ भौतिक प्रेम से ही हो । वर्गीकरण के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रगीतों में जो भी भावना प्रधान है उसी के अन्तर्गत उसे रखना उपयुक्त है ।

हिन्दी कविता के प्रगीतों के प्रमुख स्वरूपों का हम निम्नलिखित भेदों में अध्ययन कर सकते हैं :—

विनयगीति, प्रेमगीति और ग्रामगीत । प्रेमप्रगीतों के अन्तर्गत हम आध्यात्मिक प्रेमप्रगीत और भौतिक प्रेमप्रगीत रख सकते हैं । क्योंकि इनमें विषय का अन्तर है, स्वरूप का नहीं । इसी प्रकार ग्रामगीतों के अनेक भेद हैं जो ऋतु और अवसर के अनुसार विषय और स्वरूप दोनों में एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं ।

विनय प्रगीत

इन प्रगीतों के अन्तर्गत आत्मसमर्पण, प्रार्थना, याचना, आत्मदीनता आदि की भावना प्रधान रहती है और व्यक्ति स्वयं अपनी बात परमात्मा से निवेदन करता है । परमात्मा की प्रशंसा इन भावनाओं के साथ रहती है और उसमें दयालुता, न्यायप्रियता, उदारता आदि गुणों का विशेष रूप से आरोप किया जाता है । विनयप्रगीतों में कवि सांसारिक सम्बन्धियों को असमर्थ समझ कर परमात्मा से प्रार्थना किया करता है, अतिशय दुःख के कारण और कभी-कभी सफलता-द्वारा उत्पन्न हर्ष के आवेश में वह इस भावना से ओत-प्रोत होता है । ये विनयप्रगीत सर्वेश्वर परमात्मा के लिए होते हैं अथवा कभी-कभी देवता विशेष को लक्ष्य करके भी लिखे जाते हैं । जैसे शिवस्तोत्र, दुर्गाविनय आदि । विनयप्रगीतों के रूप में ही गणेश, सरस्वती या अन्य देवताओं की प्रार्थना किसी बड़े काव्यग्रंथ के प्रारम्भ में सफलता के लिए की जाती है । अतः विनयप्रगीतों का मूल कारण मनुष्य की अभावानुभूति है । कवि का एक पूर्ण समर्थ शक्ति में यह विश्वास होता है कि विनय-द्वारा वही शक्ति प्रसन्न हो कर उसका कल्याण करेगी ? इनमें हम प्रायः दो भावनाएँ

† “जा मरने से जग उरै, मेरे मन आनन्द ।

कब मरिहों, कब पाइहों पूरन परमानन्द ॥”

—कबीर

प्रधान देखते हैं :—प्रथम आत्मनिवेदन की है । इसके अन्तर्गत अपने दोषों और पापों का वर्णन करते हुए आत्मोत्सर्ग का भाव विशेष रूप से रहता है, दूसरी भावना परमात्मा में उनके कृत्य और दया आदि में विश्वास की है । प्रथम का प्रकाशन दूसरी भावना के कारण ही होता है । चाहे कितना पाप और दोष हमारे साथ क्यों न लगा हो, परमात्मा की विनय द्वारा वह सब कट जायगा । वह रीभेगा तो सब कुछ कर सकता है । नीचे लिखे कुछ उदाहरण उक्त कथन की पुष्टि करते हैं । कवि की व्यक्तिगत भावना उसकी पूरी आत्म-चेतना के साथ ही व्यक्त है । फिर भी वह भावना विनय और आत्मनिवेदन की ही है । अपने दोषों को सामने रखकर सूर परमात्मा से विनय कर रहे हैं :—

‘आद्यो गात अकारथ गारघ्यौ ।

करी न प्रीति कमललोचन सो जनम जुवा ज्यों हारघ्यौ ॥
निसिदिन बिषय बिलासनि बिलसत फूटि गई तव चारघ्यौ ।
अब लाग्यो पछितान पाइ दुख बीन दई को सारघ्यौ ॥
कामी कुटिल कुबील कुदरसन कोन कृपा करि तारघ्यौ ।
ताते कहत दयालु देव, पुनि काहे सूर बिसारघ्यौ ॥”*

तुलसी भी इसी आवेश में कहते हैं :—

“मोह जनित मल लाग विविधविधि, कोटिहु जतन न जाई ।
जनम जनम अभ्यासनिरत चित, अधिक अधिक लपटाई ॥
नयन मलिन पर सारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे ।
हृदय मलिन वासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे ॥
परनिदा सुनि श्रवन मलिन भये, वदन, दोष पर गाये ।
सब प्रकार मलभार लाग निजनाथ चरन बिसराये ॥
तुलसिदास ब्रत दान, ग्यान-तप सुद्धि हेतु श्रुति गावैं ।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावैं ॥”†

इन गीतों में मुख्य भावना अपने दोषों के उद्घाटन की है । परमात्मा के सामने अपने दोषों को स्वीकार करना उनसे मुक्ति पाने का एक साधन है । मन को अपने स्वभाव से वर्जित कर उसे परमात्मा की ओर मोड़ने से मन की शुद्ध शक्ति बढ़ती है । दूसरी भावना परमात्मा के ऊपर दृढ़ विश्वास,

* सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ४२ वाँ पद ।

† विनयपत्रिका, ८२ ।

पूर्ण आत्मसमर्पण की है। पापों से और पापों-भरे संसार से उबारने के लिए कितनी विनय इनमें भरी हुई है।

सूर कहते हैं:—

“जो हम भले बुरे तो तैरे।

तुम्हें हमारी लाज बढ़ाई बिनती सुनु प्रभु मेरे।

सब तजि तुम शरणागत आयो निज कर चरण गहे रे ॥

तुम प्रताप बल बढ़त न काहू निडर भये घर चरे।

और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे ॥

सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा ते पाये सुख जु घनेरे ॥”

नीचे के पद में विनय के साथ-साथ कृतज्ञता की भावना भरी हुई है:—

“तुम गोपाल मोसों बहुत करी।

नर देही दीनी सुमिरन को मो पापी ते कछु न सरी।

गर्भबास अति त्रास अधोमुख तहाँ न मेरो सुधि बिसरी ॥

पावक जठर जरन नहि दीनों कंचन सो मेरी देह धरी।

जग में जन्म पाप बहु कीन्हें, आदि अन्त लौ सब बिगरी।

सूर पतित तुम पतित उधारन, अपने विरद की लाज धरी ॥ ५७ ॥”

तुलसी की विनयपत्रिका तो विनय-गीतों का भंडार ही है। यही भावनाएँ वहाँ भी देखिये:—

“तू दयाल दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंज हारी ॥

नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों।

मो समान आरत नहि आरतहर तोसों ॥

ब्रह्म तू हौं जीव हौं तू ठाकुर हौं चरे।

तात, मातु, मरु, सखा, तू सब विधि हित मेरो।

मोहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावें।

ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण आवे ॥*

विनय के अन्तर्गत दीनता, अनन्यता और समर्पण के कितने गहरे भाव नीचे के पद में व्यक्त हुए हैं:—

“जाउं कहैं तजि घरम तुम्हारे ।

काको नाम पतिसपायम जम केहि अति दीन पियारे ॥

कौने देव बराइ बिरद हित हठि हठि अघम उधारे ।

खग, मंग, व्याध, पखान, विटप जड़ जवन कौन सुर तारे ॥

देव, दनुज, मुनि, नाम मनुज सब माया बिबस बिचारे ।

तिनके हाथ वासतुलसी प्रभु कहा अपुनपौ हारे ॥”

विनयप्रगीतों के अन्तर्गत अन्ध भावों को लपेट कर भी प्रगीत लिखे गये हैं, जैसे विद्यापति की शंकर की स्तुति, रीतिकाल के कवियों की कृष्ण की स्तुति आदि। इनमें हास्य-विनोद की भावना प्रधान है। विनयप्रगीतों के नितान्त एक दूसरे से भिन्न विविध स्वरूप देखने को नहीं मिलते।

प्रेमप्रगीत १—आध्यात्मिक

प्रगीतों का दूसरा भेद प्रेमप्रगीतों का है। इनके अन्तर्गत आध्यात्मिक प्रेम और भौतिक प्रेम के प्रगीत हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत हम क्रमशः मानव-प्रकृति और देशप्रेम के प्रगीत ले सकते हैं। आध्यात्मिक प्रेमप्रगीत, विनयगीतों से भिन्न इस कारण से है कि आध्यात्मिक प्रेमगीतियों में प्रधान भावना प्रेम की है; जब कि विनय गीतियों में प्रधान भावना श्रद्धा, विश्वास और दीनता की है। इनमें परमात्मा के प्रति तीव्र और गहरी उमंगती प्रेम भावना भरी रहती है। परमात्मा के प्रेम का विकास भक्ति काव्य में देखने को मिलता है। सगुण भक्ति के अन्तर्गत व्यापक भावनाएँ विनय की तो हैं ही, प्रेम की भी हैं। सगुण भक्ति के अन्तर्गत भी प्रेम-भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है। आध्यात्मिक प्रेमप्रगीतों के अन्तर्गत जिस प्रकार के प्रगीत आते हैं उनका वर्णन मधुर भाव की भक्ति के अन्तर्गत हो चुका है। किन्तु इस परमात्मा के सम्बन्ध की प्रेम-भावना का सादृश्य बहुत कुछ लौकिक प्रेम से रहता है। उदाहरण के लिए नीचे लिखा कबीर का पद देखिये :—

“भोज चुनरिया प्रेमरस बूँदन ।

आरति साज के चली है सुहागिन पिय अपने को बूँदन ।

काहे की तोरी बनी है, चुनरिया, काह के लगे चारों फूँदन ।

पाँच तत्व की बनी चुनरिया नाम के लगे चारों फूँदन ।

चढ़िगे महल खुलगई रे कियरिया दस कबीर लागे भूलन ॥”

१८७ परिक्षिप्त, कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

यहाँ कबीर के परमात्मा के प्रेम का चित्रण है। यह प्रेम उसी प्रकार का है जैसा कि एक पतिप्यारी स्त्री का प्रेम होता है। उस प्रेमानुभूति का वर्णन देखिये। कबीर कहते हैं पति की प्रेमरस की वर्षा से चुनरी भीज रही है। उसी प्रेममग्न अवस्था में आत्मा एक सौभाग्यवती स्त्री के समान आरती सजाकर अपने प्रिय (परमात्मा) की खोज में चली है। सौभाग्यवती इस कारण से है, कि पति उसके सद्गुणों पर उसे अवश्य प्यार करता है—उसे अपनाता है इसका विश्वास उसे पूरा है। आरती साजकर अपने प्रिय को ढूँढ़ने जाना, यह परकीया नायिका का काम है। भक्ति के क्षेत्र में परकीया का प्रेम विशेष तीव्र माना गया है इसी से यह रूप है। अब वह चुनरी जो प्रेमरस से भीज रही है, किस वस्तु की बनी है और फूँदन किस चीज के हैं? उसके उत्तर में वे कहते हैं कि चुनरी अर्थात् यह देह पाँच तत्व की बनी हुई है और परमात्मा के 'नाम' के शोभाशाली फूँदन लगे हुए हैं। इस प्रकार का उत्तर पाने पर कबीर को महल में प्रवेश-आदेश मिल गया और वे भीतर जाकर भूलने लगे अर्थात् परमात्मा के समीप जाकर प्रेम का आनंद प्राप्त करने लगे। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी इस प्रश्न का उत्तर इस रूप में दे सकता है वही परमात्मा का प्रेमी है और उसे ही महल में प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है। यहाँ पर उस प्रेम का रूपक परकीया प्रेम से और आनंद का रूपक 'भूलने' से बाँधकर उन्होंने आध्यात्मिक अनुभव के सादृश्य करनेवाले लौकिक अनुभवों की ओर संकेत कर, उसको व्यक्त किया है।

कबीर के अधिकांश प्रगीत जो उनके अनुभव को व्यक्त करनेवाले हैं इसी प्रकार के हैं। इन आध्यात्मिक प्रेमप्रगीतों के अन्तर्गत हम विरह और मिलन दो प्रकार की भावनाओं में प्रेम का प्रकाशन पाते हैं। संसार से वैराग्य के साथ-साथ विरह की भावना जाग्रत होती है। और उसका अनुभव मनुष्य को नित्य प्रति के बनते-बिगड़ते, जीवों को जन्मते-मरते देखकर होता है। “भूलालोग कहें घर मेरा” “माली आवत देख के कलियन करी पुकार” आदि पदों में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। विरह में अनेक अन्य अवस्थाओं के साथ वह अवस्था आती है जबकि प्रिय की स्मृति गहरी होती है और उसी सुधि की अवस्था में प्रेमी रहता है। कबीर अपनी आत्मा के, विरहावस्था के अनुभव का वर्णन करते हैं:—

“चरखा चलै मुरत विरहिन का।

काया तगरी बनी अति सुन्दर महल बना चेतन का ॥

सुरत भाँवरी होत भवन में पीढ़ा ज्ञान रतन का ।
मिहीन सूत बिरहिन कातें माँझा प्रेम भगति का ॥
कहं कबीर सुनो भई साधो, माला गूथों दिन रैन का ।
पिया मोर ऐहें पगा राखिहें, आसु भेंट देहों नैन का ॥

किन्तु इसके पश्चात् विकलता का अनुभव होता है । धीरे-धीरे विरह की भावना तीखी हो जाती है और प्रतिपल बिछुड़न और अलगाव का विचार, घुन की भाँति काटें खाता है । इस आत्म विरहानुभूति का प्रभाव-शाली ढंग से कबीर की साखियों में प्रकाशन हुआ है । आध्यात्मिक प्रेम प्रगीतों की यह भावना प्रगीत की जान है । कुछ पंक्तियाँ देखिये:—

“आँखड़ियाँ भाँई परी, पंथ निहारि निहारि ।
जीहड़ियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि ॥
कैसे जीवेगी विरहिनी पिया बिन, कीजें कौन उपाय ।
दिवस न भूख रैन नहि सुख है जैसे कलिजुग जाय ॥
तलफत मोन बिना जल जैसे, दरसन दीजें धाय ।
बिना अकार रूप नहि देखा, कौन मिलेंगी आय ॥
आपनि पुरुष समुझि ले सुन्दरि, देखो तन निरताय ।
सब्द सरूपी जिव-पिव बूझो, छोड़ो भ्रम की टेक ॥
कहं कबीर और नहि दूजा जुग जुग हम तुम एक ॥”

इसी प्रकार ‘मीरा’ का एक विरह-भरा प्रेमप्रगीत देखिये :—

“हेरी में तो प्रेम दिवानी री, मेरा दरद न जानें कोय ।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोवण होय ।
गगन मंडल में सेज पिया की किस विधि मिलणा होय ॥
घायल की गति घायल जानें की जिन लाई होय ।
जौहर की गति जौहरी जानें, की जिन जौहर होय ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहि कोय ।
“मीरा” की प्रभु पीर मिटे, जब बैद सँवलिया होय ॥”

अन्त में संसार के सभी सम्बन्धों को घुलाकर परमात्मा से मिलने का दृढ़ विचार कितने विश्वास और विकलता के साथ-साथ व्यक्त हुआ है :—

“इब न रहूँ माटी के घर में ।

इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि में ॥

छिनहर घर अरु भिरहर टाटी ।

घन गरजत कंपत मेरी छाती ॥*

यथार्थ में विरहानुभूति की अनेक दशाएँ एक दूसरे से भिन्न या नितान्त अलग-अलग रूप में नहीं दिखलाई पड़ती हैं। इन दशाओं का मनो-विज्ञान के विचार से जो भी क्रम निश्चय किया जावे, आवश्यक नहीं कि वही दशाएँ यथार्थ अनुभव के क्रम में आई हों। किन्तु अध्ययन और मनोविज्ञान के विचार से इसी प्रकार का क्रम उपयुक्त है।

मिलन की आनन्दमयी अनुभूति का प्रकाशन भी कबीर की कविताओं में बहुत मिलता है और वह प्रकाशन प्रगीतात्मक रूप में है। इसके अन्तर्गत अनेक अवस्थाओं का खोजना और भी कठिन है अनुभव की गहराई की कमी और अधिकता के विचार से ही हम अवस्थाओं का क्रम निर्धारित कर सकते हैं। कुछ कविताएँ जिनमें मिलन अथवा आनन्द की अनुभूति का वर्णन है नीचे दी जाती हैं :—

“मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।

हीरा पायो गाँठ गँठियायो, बार बार बाको क्यों खोले ॥

हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले ।

सुरत कलारी भई मत्कारी, बढवा पी गई बिनु तोले ।

हंसा पाये मान सरोबर, ताल तलैया क्यों डोले ॥

तेरा साहब है घटमाही, बाहर नैना क्यों खोले ।

कहँ कबीर सुनो भई साधो, साहब मिल गये तिल ओले ॥”†

परमात्मा के साथ जाने का आनन्द कबीर नीचे के पद में वर्णित करते हैं :—

“मैं अपने साहब संग चली ।

हाथ में नरियल मुख में बोझा, मन्थन माँग भरी ।

लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी, तापें चढ़ि कँ चली ॥

नदी किनारे सतगुरु भेटे तुरत जनम सुधरी ।

कहँ कबीर सुनो भई साधो, दोउ कुल तारि चली ॥‡

* कबीर, पृ० ३१६ ।

† ‘कबीर’ परिशिष्ट, पद, २१२ ।

‡ ‘कबीर’ पद, १८८ ।

पूरे साज-सामान के साथ पति के साथ की यात्रा है। अब आगे पति के देश का वर्णन है जो कि इस जग से, जो नहर है नितान्त भिन्न है। यहाँ पर जाना बड़ा कठिन है, कोई भी आराम व सुख के सामान नहीं हैं, किन्तु कबीर के लिए वही देश सुन्दर और सुखद है :—

“बागड़ बेस लूवन का घर है। तहँ जिन जाइ दाभन का डर है।
सब जग देखौ कोई न धीरा। परत धूरि सिर कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी। मन तहाँ सतगुरु साधू बाणी।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा। ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
बेस मालवा गहर गंभीर। डग-डग रोटी पग-पग नीर।
कहँ कबीर धरती मन माना। गूँगे का गुड़ गूँगे जाणा।”

यह कबीर का प्रिय के देश का वर्णन है। वे परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव व निरपेक्ष आनन्द की प्राप्ति करते हैं जो उनका निजी अनुभव है। “रस गगनगुहा में अजर भरै” तथा अन्य पदों में इसी प्रकार अनुभव का वर्णन है; किन्तु मिलन का आनन्द अलौकिक है, उसका अनुभव नीचे के पद में कबीर ने व्यक्त किया है :—

“आज दिन कै में जाऊँ बलिहारी।

पीतम साहब आये मेरे पहुना। घर आँगन मोरा लगे सुहावना।
सबे दास लागे मंगल गावन। भये मगन लखि छवि मनभावन।
चरन पखारूँ बदन निहारूँ। तन मन धन सब साईं पे बारूँ।
जा दिन पाये पिया धनि सोई। होत अनंद परम सुख होई।
सुरत लगी सत नाम की आसा। कहँ कबीर दासन के दासा।”

सूर और तुलसी के भी आध्यात्मिक प्रेम-गीत हैं पर उनमें प्रेम से अधिक श्रद्धा और समर्पण की भावना है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रेम-प्रगीतों का संक्षिप्त परिचय हुआ।

प्रेम-प्रगीत—२. लौकिक (भौतिक)

प्रेम-प्रगीतों में प्रेम की तीखी और व्यापक हिलोर भरी रहती है। इनमें प्रायः कला की उत्कृष्ट कोटि देखने में आती है, क्योंकि प्रेम सबसे प्रबल भाव है और विश्व की उत्कृष्ट कविता का स्रोत है। प्रेमानुभूति और कल्पना ही कविता की दो शक्तियाँ हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रबन्ध और नाट्य काव्यों में प्रमुख भाग कल्पना का रहता है, पर प्रगीत काव्य में प्रमुख कार्य अनुभूति ही करती है। इसमें कवि प्रधानतः अपनी अनुभूति के

विश्लेषण में आनन्द प्राप्त करता है और उन्हीं को गीतों के रूप में प्रकाशित करता है। अनुभूति कवि की अपनी है पर उसकी महत्ता उसके विश्व-व्यापी होने में है। हिन्दी में शुद्ध प्रेमप्रगीत अधिक नहीं हैं क्योंकि रीतिकाल की कविता के अन्तर्गत, जिसमें उन्हें काफी क्षेत्र मिला, उनका रूप बहुत कुछ नाटकीय हो गया है। वे मुक्तक हैं पर प्रगीत नहीं, क्योंकि कवि की आत्मा अपने आप न कह कर किसी दूसरे के द्वारा अपने भावों को प्रगट करती है। नायिकाभेद आदि के अन्तर्गत कवि नायक-नायिकाओं के मुँह से अपनी अनुभूति का वर्णन करता है। अधिकांश रीतिकालीन कवियों का प्रयास इसी प्रकार का है। इनमें यद्यपि आत्मा प्रगीत की है पर स्वरूप नाट्य काव्य का है। उदाहरणार्थ :—

“अलि हौं तौ गई जमुना जल को , सो कहा कहाँ बीच बिपत्ति परी ।
घहराइ के कारी घटा उनई , इतने ही में गागरी सीस धरी ॥
रपट्यो पग घाट चढ़्यो न गयो , कवि ‘मंडन’ हूँ कै बेहाल गिरी ।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी , गहि बांह गरीब ने ठाढ़ी करी ॥”

यहाँ पर कवि अपने को एक गोपी के रूप में समझता है जो कि जमुना में जल भरने गई थी और जल भरने के बहाने नंदकुमार कृष्ण से भेंट की, उसी भेंट के अनुभव का वह वर्णन करती है। कवि का अपना अनुभव नहीं, वरन् कल्पना-द्वारा वह उस प्रकार के अनुभव का आभास देता है। इसी प्रकार :—

“ऊधौ तहाँ ही चलौ लै हमें, जहाँ कूबरी कान्ह बसैं इकठोरी ।
देखिये “दास” अघाय अघाय , तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी ॥
कूबरी सों कछु पाइये मंत्र , लगाइये कान्ह सों प्रीति की डोरी ।
कूबरी भक्ति बड़ाइये बंदि , चढ़ाइये चंदन बंदन रोरी ॥”

(भिखारीदास)

इनमें यद्यपि अनुभूति बड़ी प्रबल और तीव्र है, फिर भी अपनी नहीं है। कवि अपनी बात नहीं, गोपियों की बात कहता है। प्रगीत सदा ही अपनी कथा के रूप में होते हैं; वहाँ पर आत्मानुभव अपने ही अनुभव के रूप में उपस्थित रहता है। अपनी कथा के वर्णन के रूप में नहीं, कथानक के रूप में नहीं, वरन् भीतरी अनुभव या भाव-विश्लेषण के रूप में रहना आवश्यक है। ऊपर के छन्दों में यह बात नहीं है। कवि ने अपने अनुभव को दूसरे के अनुभव के रूप में व्यक्त किया है, या दूसरे के अनुभव की कल्पना करने का प्रयत्न किया है। कवि ने गोपियों की अनुभूति में प्रवेश करके लिखा है। यही प्रवृत्ति रीतिकालीन नायिकाभेद और रसग्रंथों में सर्वदा विद्यमान मिलती है। अतः ये ‘नाट्यकाव्य’-

की विशेषता से युक्त है, पर हैं ये मुक्तक। यदि हम इन्हें प्रगीत काव्य के अंतर्गत रखेंगे तो इन्हें एक भिन्न वर्ग के अन्तर्गत रखना होगा, जिसे हम “नाट्य † प्रगीत” कह सकते हैं। प्रगीत की विशेषता ‘अपना अनुभव’ इसमें उपस्थित है पर वह अपने रूप में नहीं। यथार्थ में इन्हें मुक्तक काव्य का एक भेद कहना अधिक उपयुक्त होगा। शुद्ध गीति-भावना, इनमें नहीं।

किन्तु हिन्दी के कुछ कवि ऐसे भी हैं, जिन्होंने अपने भावावेश में लिखकर अपने को ही यथार्थ रूप में प्रकट करने का उद्योग किया है। संसार के मीठे कड़ुवे अनुभवों को उन्होंने अपना कर, अपना कह कर व्यक्त किया है और इसमें उनकी लौकिक प्रेमानुभूति भी है। इसी के अन्तर्गत हमें सुन्दर ‘प्रेम-प्रगीत’ मिलते हैं। इन प्रगीतों में प्रेम की टीस बड़े ही विशद, सहज और मधुर रूप में उपस्थित है जिसे पढ़नेवाला या सुननेवाला आकुल, व्याकुल या मुग्ध हुए बिना नहीं रहता है। इन ‘प्रेम-प्रगीतकों’ में से प्रमुख रूप से उल्लेख-नीय हैं:—घनानन्द, रसखान, आलम, सीतल, और बोधा। ये वास्तव में प्रेमी मानव थे, अतः इन्होंने हमें सुन्दर प्रेमानुभूति प्रदान की है। घनानन्द इनमें सर्वोत्कृष्ट हैं। घनानन्द के कुछ छन्द जिनमें प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है, नीचे दिये जाते हैं:—

“लाखन भौंति भरे अभिलाखनि के पल पाँवड़े पंथ निहारें।

लाड़िली आबनि लालसा लागि न लागत है मन में पन धारें।

यों रस भोजे रहै ‘घनआनंद’ रीझै सुजान सुरूप तिहारें।

चाथनि बावरे नैन कबै, असुवान सों रावरे पायें पखारें ॥” ४४५।

घनानन्द और रसखान।

ऊपर के छन्द में प्रिय के पैर पखारने की, प्रिय मिलन की चाह कितनी गहरी है और उस चाह को किन सुन्दर सूक्ष्म भावों के साथ व्यक्त किया है। मिलन की चाह अधूरी ही रहती है। अतः अभिलाषा और भी बढ़ती जाती है। ‘व्याकुलता’ उभरती है जिसका चित्रण नीचे की पंक्तियों में दर्शनीय है:—

“प्राण पखेरू परे तरफें, लखि रूप चुगौ जु फँदे गुन गाथन।

क्यों हतिये हित पालि सुजान, दया बिन ब्याध-वियोग के हाथन।

† Robert Browning wrote many poems of this kind and he invented a name for them “Dramatic Lyrics” so that people should understand that the “I” in the poem was not himself.”

सालत बान समान हिये सुलहे, घनग्रानंद जे सुख साथन ।

बहु दिखाय बई मुखचंद लग्यौ अब औधि दिनाकर आथन ॥” ४४०।

घनानन्द और रसखान ।

इसमें प्रिय-विश्रोह के साथ विवशता की अनुभूति कितनी प्रबल है, जिसकी तीव्रता छन्द के एक-एक शब्द से प्रकट होती है । प्रेम की प्यास, दर्शन की लालसा कितनी बढ़ी-चढ़ी है कि एक क्षण भी चैन नहीं । संसार के कार्यों में सूनापन है । बुद्धि बावली है, धैर्य खो गया है । देखिये :—

“मेरी मति बावरी हूँ जाय जानराय प्यारे,

रावरे सुभाय के रसीले गुन गाय गाय ।

देखन के चाय प्रान आंखिन में भाँके आय,

राखौं परचाय पै निगोड़े चलें धाय धाय ।

विरह बिषाद छाय आंसुन की भरी लाय,

मारें मुरझाय में छौस रैन ताय ताय ।

ऐसे घनग्रानंद बिहाय न बसाय हाय,

धीरज बिलाय बिललाय कहौं हाय हाय ॥”

इसी भाँति ही:—

“रैन दिना घुटिबो करें प्रान, भरें अखियाँ दुखिया भरना सो ।

प्रोतम की सुधि अंतर में, कसक सखि ज्यों पसुरीन में गाँसी ।

चौचंद चार चबाइन के चहुँओर मचें बिरचें करि हाँसी ।

यों मरिये भरिये कहि क्यों सु परो जनि कोऊ सनेहे की फाँसी ॥” ३६८।

प्रेम में कितना दुख सहना पड़ता है, इस बात का अनुभव कवि ने स्पष्ट रूप से कह दिया है ‘स्नेह में पड़ना फाँसी में पड़ना है ।’ अब आगे प्रिय की कठोरता पर ‘उपालंभ’ का भाव नीचे के छन्द में कितना सजग है:—

“हम सों पिय साँचिय बात कहौ, मन ज्यों मन त्यों अरु नाहि कहूँ ।

कपटी निपटी हिय दाहत हौ, निरदं जु बई डर नाहि कहूँ ॥

सबही रँग में घनग्रानंद में बस जात परे घर नाहि कहूँ ।

उथरो, बरसौ, सरसौ, दरसौ, सब ठोर बसौ घर नाहि कहूँ ॥” २०० ।

इसी प्रकार विरह की अनेक प्रकार की अनुभूतियों का बड़ा तीखा और सजीव चित्रण घनानंद के प्रेमप्रगीतों में है ।

रसखान की कविता में ‘प्रगीतात्मक भावना’ उतनी सबल नहीं, जितनी

घनानंद की कविता में। अपने को गोपी समझ कर कृष्ण की लीला, विलास, रास, प्रेम आदि का वर्णन ही उनका ध्येय है, पर यह वर्णन उनका परम्परागत उतना नहीं जितना स्वानुभूत है। अतः उसमें कल्पना का भाग उतना नहीं, जितना अनुभूति का है। घनानंद के काव्य में अनुभूति की तीव्रता उनकी है और व्यक्त भी अपनी कहकर उन्होंने किया है, पर रसखान ने ऐसा कम किया है। 'प्रगीतात्मकता' उसमें उपस्थित है और कुछ में तो सुन्दर प्रेम-प्रगीत की विशेषता छिपी है, पर उसमें कृष्ण के प्रति प्रेम होने से भक्ति का पुट आ जाता है, जैसे—

“मानुस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरी चरौं नित नंद की धेनु मँभारन ।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो रचौ कर छत्र पुरन्वर कारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।”
“या लकड़ी अह कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहुँ सिद्धि नवौनिधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं ।
'रसखान' कबौं इन आखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥”

इस प्रकार कृष्ण के प्रति प्रेम प्रदर्शित करनेवाले छंद घनानंद में भी हैं, पर कम हैं। लौकिक प्रेम के साथ-साथ अलौकिक प्रेम की ओर भी संकेत है, परन्तु इन दो कवियों के अतिरिक्त आलम, बोधा, और सीतल आदि कुछ ऐसे भी कवि हैं, जो पक्के प्रेमी ही हैं। इन्होंने जो भी लिखा है प्रेमावेश में ही आकर। अतः इनकी लेखनी से भी सुन्दर और मधुर प्रेम-प्रगीत बहे हैं। आलम का 'शेख' से बोधा का 'सुभान' नामक वेश्या से और सीतल का एक लड़के से प्रबल प्रेम जुड़ा था और प्रेमसूत्रों पर इनके प्रगीतों के ताने-बाने फैले हैं। इसी के द्वारा उन्हें काव्य की प्रेरणाएँ भी प्राप्त थीं और वे तीखे अनुभव भी, जो उनकी प्रेमानुभूतिपूर्ण कविता के प्राण हैं। आलम का 'आलमकेलि', बोधा का 'बिरहबारीश' और सीतल का 'गुलजारे चमन' इसी प्रकार के प्रेम-प्रगीत हैं। प्रेम का इनका निजी अनुभव उनमें भरा पड़ा है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'आलम' के विषय में अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में लिखा है:—“आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे। और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। सी से इनकी रचनाओं में हृदय तत्व की प्रधानता है। 'प्रेम की

पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है..... शृंगारस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचनाओं में मिलती हैं कि पढ़नेवाले और सुननेवाले लीन हो जाते हैं । यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही सम्भव है.....प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानंद की कोटि में होनी चाहिए ।" इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि आलम अपनी निजी उमंग के प्रेम-चित्रण में सफल कवि हैं और प्रेम प्रगीतकार भी । आलम के दो छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं:—

“जा थर कीन्हें बिहार अनेकन, ता थर काँकरी बैठि चुन्यौ करे ।

जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करे,

आलम जौन से कुंजन में, करी केलि तहां अब सीस धुन्यौ करे ।

नैनन में जो सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करे ॥

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते, राते,

अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं ।

तोखी तोखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीव,

केते भये घायल औ केते तलफात हैं ॥

ज्यों ज्यों लं सलिल चख सेख धोवँ बार बार,

त्यौं त्यौं बल बुंदन के बार भुकि जात हैं ।

कँवर के भाले कंधों नाहर नहरवाले,

लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात है” ॥

इनमें सौन्दर्य का चित्रण जो है सो है, पर प्रेयसी के प्रति प्रेमभावना गजब की है । इसीलिए ये प्रेम-प्रगीत के उदाहरण हैं ।

बोधा भी इसी कोटि के कवि है । प्रेम-भावना का चित्रण उनकी कविता में भी बड़ा प्रभाव डालनेवाला है, कभी-कभी मन भ्रूम जाता है । बोधा के विषय में रामचन्द्र शुक्ल का कथन है :—“ बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे । इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिख कर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यों की रचना की है । वे अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे । प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होंने बहुत से पद्य कहे हैं । 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है ” *बोधा की प्रेमानुभूति अपनी ही है ; क्योंकि वे स्वयं प्रेमी थे ।

प्रेम का परिचय नीचे के छन्द में देखिये :—

“अति खीन मृणाल के तारहु ते , तेहि ऊपर पाँव बँध आवनो है ।
सुई बेह कं द्वार सकै न जहाँ , परतीति को टाँड़ो लदावनो है ॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते , चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है ।
यह प्रेम को पंथ करार है री , तरवारि की धार पै धावनो है ॥”

यह तो प्रेम के कठिन पथ का चित्रण हुआ, जो कि सामान्य रूप से किया गया है। अब उनकी अपनी अनुभूति का चित्रण देखिये :—

“कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो , यह धोरज ही में धरेंबो करें ।
उरते कढ़ि आवैं गरे ते फिरें , मन की मन ही में सिरेंबो कर ॥
कवि ‘बोधा’ न चाँड़ सरी कबहूँ, नित ही हरवा सों हिरेंबो करें ।
सहते ही बनै कहते न कछू, मन ही मन पीर पिरेंबो करें ॥

इस प्रकार के लौकिक प्रेम-प्रगीत रीतिकाल में बहुत लिखे गये और उसके बाद भी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है इनमें बहुतेरों ने भक्ति का आवरण ओढ़ लिया है, पर वहाँ पर विश्लेषण करने से यह साफ पता चल जाता है कि प्रधान भावना लौकिक प्रेम की है, भक्ति की नहीं। प्रेम की प्रवृत्ति कविता की सर्वप्रधान प्रवृत्ति है। मनुष्यमात्र का प्रेम-चित्रण तो कविता की मूल है, पर जहाँ लेखक की निजी स्वानुभूति का वर्णन अपने ही शब्दों में है, वहाँ पर वह प्रेम-प्रगीतों के अन्तर्गत होता है।

प्रेम-प्रगीतों में प्रकृति और देश के प्रति लिखे गये रूपों में अधिक तीव्रता आधुनिक युग के काव्य में विशेषरूप से प्रसाद, महादेवी, पन्त आदि की कविता में मिलती है।

ग्रामगीत

प्रगीतों का अतीव स्वाभाविक रूप ग्रामगीतों में देखने को मिलता है। ये ग्रामगीत ग्राम्य मनुष्यों और विशेष कर नारियों के द्वारा किसी त्यौहार, उत्सव, संस्कार के अवसर पर या नित्यप्रति काम करते समय गाये जाते हैं। इनके भीतर उस अवसर के अनुकूल व्यक्ति की बड़ी तीव्र भावना अन्तर्निहित रहती है। और स्वानुभूति का स्वर हृदय पर स्थायी चोट करनेवाला होता है। इनकी विशेषता अवसर विशेष की व्यापक अनुभूति को वैयक्तिक तीव्रता के साथ वर्णन करने में है। अवधी के पास ऋतु, त्यौहार, उत्सव, संस्कार आदि के अवसर पर गाये जानेवाले ग्रामगीतों का विस्तृत भंडार है जिसकी

विविधता भी कम आकर्षक नहीं। वैसे तो हिन्दी की सभी बोलियों में अपने विशेष ग्रामगीत हैं, जिनमें से बहुत कुछ साहित्यिक महत्व भी रखते हैं। पर अवधी का इनमें विशेष स्थान है। इनकी भाषा अपढ़ और जनसाधारण की भाषा होने के कारण साहित्यिकों द्वारा इन पर उपेक्षा का परदा डाला रहा है।

किन्तु वास्तव में तथ्य ऐसा नहीं है। पहला बात तो यह है कि भाषा चाहे जो हो, उसमें भाव और विचार साहित्यिक भाषा में लिखे गीतों से कम व्यापक और उत्कृष्ट नहीं हैं। फिर उनके अन्तर्गत हमारी प्रतिष्ठित संस्कृति के पारस्परिक व्यवहार और प्रेम, समाजिक जीवन के आदर्शों की सुन्दर झलक और विशद भाँकी है। भाषा भी काफी जोरदार है और हिन्दी के बहुतेरे गण्यमान कवियों की भाषा का ही प्रयोग इनमें मिलता है, अतः उन्हें साहित्यिक क्षेत्र से हटा देना उनके साथ अन्याय करना है। भाषा और भाव दोनों की सबलता उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जायगी। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, अवसर विशेष पर ग्रामगीतों के समान प्रभाव डालनेवाली दूसरी बात नहीं है, क्योंकि उसमें अपनी अनुभूति छिपी है। प्रभाव, संगीत और अनुभूति के सीधे ढंग के कारण ही ये हिन्दी प्रगीतों का एक महत्वपूर्ण वर्ग स्थापित किये हैं।

ग्राम्यजनों का दैनिक जीवन गीतों से भरा हुआ है। प्रभात के समय नारियाँ जब चक्की पीसती हैं उस समय उषाकाल की शान्त, शीतल और सुरभित वायु को मधुर स्वरलहरी से भर देती हैं, जो एकरस चलनेवाली चक्की की घर्-घर् के साथ विषमता ही नहीं पैदा करती, उसे भी माधुर्य और सरसता देती है; जैसे उजाड़ में उगे हुए कुछ हरे-भरे पौधे। सबसे सुन्दर समय में गाये जाने और नारियों के कोकिल-कण्ठों की मधुराई से युक्त होने के साथ-साथ ही गीत स्वतः सुन्दर कल्पना और गहरे भावों से भरे-पूरे होते हैं। प्रभात के बाद दिन के समय जब गाँव के लोग वर्षा के दिनों खेतों में निरौनी करते होते हैं अथवा किसी पेड़ की डालपर बैठे गायों को चराते हैं और कोई हलका काम करते हैं, तब एकाध गीत की लड़ी पास के बगीचों में प्रतिध्वनि करती हुई सुन पड़ती है। वर्ष की भिन्न-भिन्न ऋतुओं के लिए अवसर के अनुकूल गीत होते हैं। जैसे हिंडोल, चौमासा बारहमासा, दीवाली, होली, फाग, धमार और इसी प्रकार से पूजा, बटगमनी-लोरी आदि के गीत हैं। पावस हमारे लिए ग्रीष्म के बाद आनन्ददायी परिवर्तन उपस्थित करता है इसीलिए भारतवर्ष में इस समय अचानक गीतों का भी प्रस्फुटन होता है। यह आनन्द पशु-पक्षी, कीड़े-पतंगों तक में देखा जाता है। चारों ओर चहक

मचती है, तब मनुष्य का आनंदविभोर होकर गाना तो और भी स्वाभाविक है। इस समय के गीतों में बड़ा आनंद भरा रहता है। हृदय के उच्छ्वास के समान ही सहज निकले हुए ये गीत होते हैं, इनमें जीवन का उल्लास अथवा निराशा भरी रहती है अतः इनका बड़ा प्रभाव है। विशेष अवसरों पर गाये जानेवाले ग्राम गीतों में सोहिल, जनेऊ, बधाई, विवाह आदि के गीत विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से किसी में उल्लास की भावना है और किसी में विषाद की अनुभूति। इन ग्रामगीतों में नीचे लिखी विशेषताएँ मिलती हैं :—

१—पहली यह कि पूरे गीत में एक ही भाव बहता है।

२—दूसरे ये व्यक्तिगत अनुभूति के सीधे और सहज प्रकाशन हैं, यद्यपि प्रभाव सर्वव्यापी है।

३—अनुभूति पर प्रभाव डालनेवाले, अवसर विशेष के अनुकूल स्वाभाविक और सहज प्रकाशन अपनाया गया है।

४—केवल वर्णन नहीं, वरन् भावानुभूति ही की प्रधानता रहती है।

५—ये अकेले अवथा समूह के द्वारा, ढोलक मँजीरा या और बाजों के साथ गाने के लिए रचे गये हैं।

६—अधिकांश शब्दों और पदों की पुनरावृत्ति उन्हें सहज स्मरणीय बनाने के हेतु है।

७—अपनी विशेष संस्कृति की झलक दिखलाते हुए इनमें विश्वव्यापी भावों का चित्रण है।

इन विशेषताओं के साथ ग्रामगीतों के अन्तर्गत साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं, भाव और भाषा दोनों का सौन्दर्य है और इनकी विशेषताएँ इन्हें प्रगीत का सौन्दर्य प्रदान करती है।

हमारा भारतीय समाज ग्रामगीतों में बड़ा ही समृद्ध है और हिन्दी के अन्तर्गत मिथिला, अवध, बुन्देलखण्ड, ब्रज और राजस्थान के ग्रामगीत सम्मिलित हैं जिनमें यद्यपि अपनी विशेषता है फिर भी मौलिक बातों में भिन्नता नहीं। उनकी विशेषता का अध्ययन करना विषय के विस्तार को और भी बढ़ा देगा। जो विशेषताएँ अवधी गीतों की हैं, लगभग वही सभी में पाई जाती हैं। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है कि ये गीत हिन्दी काव्य की सम्पत्ति हैं और सामाजिक संस्कृति के इतिहास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इनकी ओर उपेक्षा नहीं की जा सकती। ग्रामगीतों के आदर्श पर हमारा सजीव साहित्य रचा जा सकता है; जिसमें कि सामाजिक

बुराईयों का समाज के हृदय पर भावात्मक प्रभाव डाला जा सके और हमारे नित्यप्रति के जीवन में प्रकृति का सौन्दर्य और मनुष्य का शील और सम्बन्ध भली प्रकार भरा जा सके। ग्रामगीतों में हमें इस प्रकार की झलक मिलती है पर खेद की बात यह है, कि साहित्यिकों की उपेक्षा के कारण उनकी प्रभावशाली धारा सूख सी गई है।

हम में से बहुत लोग यह सोचते हैं कि ये ग्रामोणों के द्वारा बनाये गये गीत क्या साहित्यिक महत्त्व रखते होंगे ! परन्तु जब हम उनके सम्पर्क में आते हैं, तब पता चलता है कि उनमें बड़े सबल भाव जोरदार शब्दों में प्रकट किये गये हैं। स्त्रियों द्वारा गाये जानेवाले गीत अधिकतर स्त्री जाति के द्वारा ही बनाये गये हैं † और मनुष्यों ने अपने गाने के लिए बनाये। इनके अतिरिक्त सूर, तुलसी, कबोर, मीरा, के पद तो प्रचलित हैं ही।

इन ग्रामगीतों को हम दो वर्गों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं:—पहले वर्ग के भीतर वे गीत हैं, जो किसी विशेष अवसर पर गाये जाते हैं। जैसे:—जन्म, मुन्डन, कर्णबेध, जनेऊ, विवाह, तथा भूला, होली आदि; और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे गीत हैं जो नित्यप्रति के काम के साथ गाये जाते हैं। जैसे:—जाँत, चक्की, धान रोपना, खेत निराना, बटगमनी आदि। दोनों प्रकार के गीत करुण उद्गारों और मर्मस्पर्शी वर्णनों से भरे रहते हैं। ग्रामगीतों को हम अत्यधिक भावात्मकता, सहज और सीधे प्रकाशन और बोलचाल की सजीव जोरदार भाषा के आधार पर दूसरों से अलग मान सकते हैं। जहाँ अन्य सभी भेदों में कलात्मक उद्देश्य है, वहाँ इनमें जोरदार अनुभूति का सीधा और खड़ा प्रकाशन। इस कारण इनका प्रभाव तुरंत सीधा और गहरा होता है। इनमें स्वाभाविक सहज उद्गार हैं और ऐसी कोई भी बात नहीं जिसके लिए किसी को सिर खुजलाना या ठुड्डी पर हाथ रखकर सोचना पड़े। गहरे से गहरे संकेत स्वभावतः खुलते चले आते हैं और हम एक के बाद और दूसरी गहरी लहर में मग्न होते जाते हैं। उनमें कुछ भी सोचने और ढूँढ़ निकालने की बात छिपी नहीं रहती, फिर भी एक गीत पढ़ने या सुनने के बाद आगे बढ़ना कठिन हो जाता है, क्योंकि भावों

† “हमने गीतों का गहरा अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि स्त्रियों के गीतों में पुरुषों का मिलाया एक शब्द भी नहीं है। स्त्रीगीतों की सारी कीर्ति स्त्रियों के हिस्से की है।”

रामनरेश त्रिपाठी—कविताकौमुदी, पाँचवा भाग—भूमिका।

की हिलोर चोटी से ऐँड़ी तक और इतनी गहरी होती है कि श्रोता उसी में डूबा रह जाता है और मधुर अनुभूतियाँ जगती और सचेत होती चली आती हैं। उच्छ्वास के साथ गद्गद् हो जाना, पुलक के साथ आँसू भर आना और अकेले पड़े भाव में डुबकी लगाते रहने में इनका विलक्षण आनंद छिपा है। ग्रामगीत संगीत के वे स्वर हैं जिनका भाव ग्रहण करना सरल और याद रखना सरलता है। जब व्यक्त उनके द्वारा वर्णित भावों में बहते हैं, तब एक नई स्फूर्ति मिलती है। भाव परिष्कृत हो जाते हैं, हृदय धुलकर साफ़ हो जाता है, किन्तु श्राता भरे ही रह जाते हैं। वे भाग्यशाली हैं, जो ग्रामगीतों को उस बोली के नित्यप्रति बोलने वाले के मुखों से उपयुक्त अवसर पर शब्द-शब्द के लोच के साथ सुनते हैं।

अस्तु, ग्रामगीतों के पहले वर्ग के अन्तर्गत विशेष अवसर, उत्सव, तथा ऋतुओं पर गाये जानेवाले गीत हैं। सोहिल या सोहर वह गीत है जो बच्चों के जन्म के समय अधिकांश गाया जाता है। यह बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध गीत है और इनके गाने की धुनि भी विशेष है, जिसे सुनकर लोग समझ सकते हैं कि यह सोहर है। नीचे का उदाहरण देखिये:—

“जो में जनतिउँ ये लवँगरि एतनी महकिहउ ,
 लवँगरि रँगतिउँ छयलवा कँ पाग सहरवा मा गमकत ।
 अरे अरे कारी बदरिया तू हँ मोर बादरि ,
 बदरी ! जाइ बरसउ ओइ देश जहाँ पिय छाये ।
 बाइ बहँ पुरवइया त पछुआ झकोरइ ।
 बहिनी दिहेउ किबरिया ओढ़काइ सोवउँ सुखनींद री ॥
 की तू कुकुरा बिलरिया सहर सब सोवइ ,
 की तुम ससुर पहरुआ किबरिया भड़कावउ ।
 ना हम कुकुर बिलरिया ना ससुर पहरुआ ,
 धन हम आही तोहरा नयकवा बदरिया बोलायेसि ।
 आधी राति बीतगई बतियाँ, नियाई राति चितियाँ ।
 बारह बरस का सनेह जोरत मुरगा बोलइ ।
 तोरों में मुरगा के चोंच गटइया मरोरौ ,
 मुरगा काहे कियेहु भिनुसार त पियेहि बतायेउ ।
 काहे रानी तोरउ चोंच गटइया मरोरौ ।
 रानी, होइ नै धरमवा कँ जून, भोर होत बोलेउँ ॥”

यह प्रगीत कितना प्रभावपूर्ण है। प्रेम की चरम सीमा वहाँ है जहाँ पर

पत्नी स्वयं पति से अनजाने बात कर रही है। गीत की दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं पंक्तियाँ भाव के साथ-साथ प्रकृति के संकेत भरे चित्रण हैं। अन्त में दोनों की भेंट और मुर्गे का बोलना भाव की पूर्ण अनुभूति में सहायक होते हैं। प्रेम की गहराई के परिणाम-स्वरूप ही मुर्गा पर डाँट पड़ती है ; पर यही भारतीय संस्कृति की झलक है। मुर्गा नहीं डाँटनेवाले की आत्मा ही मुर्गा के द्वारा बोल उठती है ; “होइगै धरमवा कै जून” धर्म की बेला है। प्रेम की गंभीरता के साथ-साथ भाव की उत्कृष्टता देखिये, यह भारतीय जीवन और ग्राम्य जनों के विश्वास की एक झलक है। विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी सभी आकर रसानुभूति को पूर्ण बनाते हैं। इसी प्रकार का एक दूसरा सोहर गीत है। इसमें बड़ी व्यापक कसूरुणा भरी है और एक सामाजिक विषमता पर व्यंग्य भी। धनिकों तथा राजाओं का आनंद-मंगल निर्धनों और बेबस लोगों की हितहानि और हत्या के आधार पर सधता है। राजकुमार की छठो है, राजा शिकार को जाते हैं और हिरन मारते हैं। हिरनी इसको विचार कर पहले से ही दुखी थी। हिरनी हिरना के मारे जाने पर रानी के पास जाती है और रानी से हिरन की खाल इसलिए माँगती है कि वह उसकी खाल को देखकर धीरज धरेगी। किन्तु रानी निर्दयता से इन्कार कर देती है। यह कहकर कि इसकी खँजड़ी बनेगी और राजकुमार खेलेंगे। हिरनी चली जाती है, खँजड़ी बनती है और जब-जब खँजड़ी का शब्द उसे सुनाई पड़ता है वह ढाक के पेड़ के नीचे खड़ी होकर हिरना की सुघ करने लगती है:—

गीत इस प्रकार है:—

“छायक पेड़ छिउलिया न पतवन गहवर ।
 अरे रामा तेहि तर ठाढ़ी हरिनिया त मन अति अनमन ।
 चरत चरत हरिनवा त हरनी ने पूँछइ ।
 हरिनी की तोर चरहा भुरान कि पानी बिन मुरझिउ ।
 नाहीं मोर चरहा भुरान न पानी बिन मुरझिउँ ,
 हरिना आज राजा जी के छट्ठो तुम्हें मारि डरिहें ।
 मखिये बैठि कौसल्या रानी, हरिनी अरज करइ ,
 रानी मसवा त सिभइ रसोइया खलरिया हमें देतिउ ।
 पेड़वा ते टेंगतिउँ खलरिया तौ फेरि फेरि देखतिउँ ,
 रानी देखि देखि मन समुझाइत जानित हरना जीतइ ।

जाउ हरिनी घर अपने खलरिया नाहीं देवइ,
हरिनी खलरी क खँजड़ी मढ़इबे राम मोर खेलिहें।
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ,
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ ॥”

अंतिम चित्र हमारी आँखों के सामने से कभी नहीं जा सकता है। ग्राम-गीत ऐसे ही चित्रों से भरे पड़े हैं।

दूसरे प्रकार के महत्वपूर्ण गीत जनेऊ के समय के हैं। प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद जनेऊ होता है और फिर ऊँची शिक्षा के लिए वह प्रस्थान करता है। दोनों प्रकार की शिक्षाओं के बीच के समय में ‘यज्ञोपवीत’-संस्कार होता है। यज्ञोपवीत के लिए उद्यत बालक को बरुआ (ब्रह्मचारी) कहते हैं। इन गीतों में प्रायः बालक के उच्चशिक्षा पाने के लिए दृढ़ विचारों का वर्णन रहता है। इस प्रकार की पवित्र भावना का वर्णन नीचे लिखे छन्द में देखिये:—

“नदिया के इरे तीरे बरुआ से बरुआ पुकारे।
आजा पठे देव नाव नेवरिया, बरुआ चला आवे।
ना हमरे नाव नेवरिया नाहीं घर खेवट,
जेकर जनेउवा के साथ पैरि नदिया आवे।
भोजे मोरे अंग के अँगिया ओ सिर के पगिया,
भोजे मोर सब सिंगार जनेउवा के साथ।
वेहों में अंग के अँगिया ओ सिर के पगिया।
वेहों में सोरहो सिंगार जनेउवा के कारन ॥”

विवाह के समय के भीत सबसे महत्व के हैं। महीनों पहले से तैयारी होती है और सात-आठ दिन पहले से उसके संस्कार ही प्रारम्भ हो जाते हैं। यह बड़ा ही पवित्र और गंभीर संस्कार है, पति और पत्नी के द्वारा पंडितों की आज्ञानुसार की हुई प्रत्येक क्रिया पर गीत गाये जाते हैं। समूह में बैठी हुई स्त्रियाँ गीत गा-गा कर भावों को उभार देती हैं और संस्कार का एक-एक कृत्य स्मरणीय महत्व रखता है। इसके द्वारा समाज की और-और प्रथायें भी व्यक्त होती हैं। जहाँ पर विवाह में मित्र और सम्बन्धियों को निमंत्रण भेजा जाता है वहीं पर आग, पानी, वायु, साँप, बिच्छू और अनेक देवी-देवताओं तथा पितरों को भी आमंत्रित किया जाता है। वे या तो बुलाये जाते हैं या उनसे इस शुभ अवसर पर दूर रहने की

प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार से विवाह के अवसर पर अनेक गीत गाये जाते हैं जिनका विवरण देना कठिन है। ये गीत आनंददायी भी हैं और करुणा से भी भरे हैं। बालिका के घर में गाये जानेवाले गीत विशेष रूप से करुणा हैं, क्योंकि विवाह के बाद उसका माता, पिता, बहिन, भाई, सम्बन्धियों से सम्पर्क छूट जाता है, किन्तु वर के घर गाये जानेवाले गीत आनंद और उल्लास की भावना से भरे होते हैं। नीचे लिखे गीत में कन्या वर के सम्बन्ध में अपने भाव व्यक्त करती है :—

बाबा जी चले मोरा बर हेरन पाट पटम्बर डारि ।

...

...

...

छोट देखि बाबा करबै न करिहैं, बड़ा नाहीं नजरि समाय ।

और-और बाबा सुघर बर हेरेउ हम बेटी तुम्हरी दुलारि ॥

...

...

...

आसन देखि बाबा आसन दीन्हों मुख देखि दीन्हों बीरा पान ।

अपनी सम्पति देखि दाइज दीन्हों, बर देखि दीन्हों कन्यादान ॥

इस प्रकार के गीतों का सामाजिक महत्व है। वर को खोजते समय व्यक्ति सभी आवश्यक बातों को समझ लेता है। और उनका ध्यान रखता है। नीचे सुहागरात का गीत है, नव विवाहिता पत्नी गाती है :—

“आजु सोहाग कै राति चंदा तुम उइयो ।

चंदा तुम उइयो सुरज जनि उइयो ॥

मोरा हियरा बिरस जनि करियो मरुगा जनि बोलियो ।

मोरी छतियाँ बिहरि जनि जाइ तू पौ जनि फटियो ॥

आजु करियो बड़ी राति चंदा तुम उइयो ।

धीरे-धीरे चलियो सूरज बिलस करि अइयो ॥

विवाह के अवसर के अनेक गीत हैं। जेवनार, गारी उनमें बड़ी मधुर होती है। विवाह के गीत बड़े ही भावपूर्ण और विशद वर्णन से पूर्ण होते हैं।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के गीत भी बड़े ही मननोहक होते हैं। उनमें ऋतुगत आनन्द और उल्लास की विशेषता रहती है। उन्हें चौमासा, बारहमासा या कजली के रूप में हम सुन सकते हैं। बाग में अथवा गाँव के किनारे बड़े पेड़ में झूले की पैंगों के साथ-साथ अनेक मुखों से जो एक गीत की स्वरलहरी

निकलती है, उसकी मधुरिमा अतुलनीय है। ये कजरी और बारहमासे तो बहुत प्रसिद्ध हैं, उदाहरणों की भी आवश्यकता नहीं, केवल दो-एक पंक्तियाँ इस ऋतु के गीतों की नीचे दी जाती हैं:—

“झूला किन डारो अमरैयाँ ।

रैनि अंधेरी ताल किरारे बुनियां परें फुइयाँ फुइयाँ ।”

इत्यादि ।

यह बुंदेलखण्डी गीत की पंक्तियाँ थीं अब ब्रज के गीत की दो पंक्तियाँ देखिये:—

“बेला कौने बोयो नविया तीर रे, बेला कौने लगायो नविया पार ।

उमड़ि घुमड़ि आये सावन के बवरा, बरसत अँखियन धार
कैसे कै जाऊँ ए री नविया किनारे, कैसे कै गूँथूँ बेला-हार ॥”

इत्यादि ।

होली, दीवाली और बसन्त के गीत भी बहुत प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक अवसरों पर गाये जानेवाले गीत हैं, जिनमें प्रगीतात्मक काव्य की सुन्दर और मधुर धारा प्रवाहित रहती है और जिन सबका वर्णन विषय को अत्यधिक विस्तार देगा, जो अनावश्यक है ।

दूसरे वर्ग के गीतों में व्यक्तिगत भावना के द्वारा सामाजिक अथवा पारिवारिक जीवन का विशद चित्रण है। नित्यप्रति हृदय में उमगनेवाले भाव बड़ी खूबी के साथ व्यक्त किये गये हैं। आज आनेवाली दो पंक्तियों में एक आकुल माता, अपनी पुत्री के विवाह की समस्या पर चिन्तित और व्यथित होकर किस प्रकार घर में पले हुए सुग्गे से अपनी बात कह रही है:—

“सावन सुअना में घिउ गुर पालेउँ चेत चना की बाल ।

अब तू सुअना भयेउ सजुगवा बेटी का बर हेरइ जाव ॥”

वर्षा ऋतु सम्पूर्ण विश्व को एक नवीन जीवन से भर देती है। जिनके पति परदेश में हैं वे स्त्रियाँ उनके घर आने की प्रतीक्षा में रहती हैं। दिन-दिन की प्रतीक्षा उन्हें विकल बनाती है। एक स्त्री जिसका पति घर नहीं आया यद्यपि, काली-पीली बदरियाँ आकाश में छा रही हैं किस प्रकार से उसके बुलाने का आयोजन करती है:—

“कारिक पियरि बदरिया भिमिकि देव बरसउ ।

बदरी जाइ बरसउ उहि देश जहाँ पिय कोइ करें ।

भीजं आखर बाखर तेंबुआ कनतियां ।
अरे भितरं से हुलसं करेज समुभि घर आवें ॥”

बादल के हाथों सँदेश भेजने की प्रथा पुरानी है, भारतीय साहित्य में इसका अधिक उपयोग किया गया है। पक्षि के बाहर रहने पर एक घर के भीतर बन्द रहनेवाली स्त्री अपनी स्वच्छन्दता रहित दशा पर किस प्रकार शोक प्रकट कर रही है—

“सकल चिरंया उड़ि उड़ि जंहें अपनी अपनी जून ।
मैं तो पापिन परेउं पिजरवा मरउं बिसूरि बिसूरि ॥”

आदि ।

गाँवों में बहुतेरे लोग ऐसे होते हैं जिन्होंने अपने जीवन भर भोजन-वस्त्र आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का आनन्द क्या होता है, यही नहीं जाना। बहुतेरे आधे पेट रहते हैं और बहुतेरे अधनंगे। यह अवस्था गाँव में अधिकांश की है अतः इस प्रकार की एक दीनता की मनोवृत्ति बन गई है। इस प्रकार की मनोवृत्ति प्रकट करनेवाले भी गीत हैं। इस प्रकार के गीत हमारे हृदय में कण्ठा भरी सहानुभूति उकसाते हैं। नीचे उद्धृत एक गीत का भाव देखिये :—

“धे देख्यो राम हमारे मन धिरजा ।

सबके महलिया रामा दियना बरत है हरि लेत्यो हमरो अंधेरा ।

सबके महलिया रामा जेवना बनत है, हरि लेत्यो हमरो भूख ।

सबके महलिया रामा सेजिया बसतु है हरि लेत्यो हमरो नींद ॥

हमारे मन धिरजा ।”

इतना ही नहीं युवावस्था की सबल और आनंददायी मौज पर गरीबी व बुभुक्षता ने किस प्रकार तुषारपात किया है, यह नीचे लिखी दो पंक्तियाँ बतलाती हैं :—

“भुलिया के मारे बिरहा बिसरिगा, भूल गई कजरी कबीर ।

देखि कै गोरी कै मोहनी सुरति अब, उठै न करेजवा मा पीर ।”

इक कलाहीन गीतों में कितनी टीस, कितना प्रभाव छिपा हुआ है, इसका अनुमान प्रत्येक सहृदय कर सकता है।

व्यक्तिगत अनुभव के साथ सामाजिक जीवन का चित्र उपस्थित करने के अतिरिक्त एक दूसरी विशेषता इस वर्ग के गीतों में है। गीतों के प्रारम्भ में

स्वतंत्र प्रकृति के संकेत भरे भावमय चित्र उपस्थित कर दिये जाते हैं, जिनमें प्रतिबिम्बित होकर भाव मानों और अधिक गहराते जाते हैं। प्रकृति की यही सूक्ष्म और संक्षिप्त पीठिका जो इन गीतों में सहज रूप से विद्यमान रहती है, भाव को चिर सौन्दर्यमय बना देती है। कविता कौमुदी (भाग ५) की भूमिका में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इन गीतों की प्रकृति वर्णन की विशेषता पर लिखा है :—‘ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं उनमें अलंकार नहीं केवल रस हैं, छन्द नहीं, केवल लय है; लालित्य नहीं केवल माधुर्य है’ और “प्रकृति संगीतमय है। ग्रहण एक नियत कक्षा में फिर कर उस संगीत का कोई स्वर सिद्ध कर रहे हैं। भरनों के अविराम नाद पत्तों की मर्मर ध्वनि, चंचल जल का कल-कल, मेघ का गरजना, पानी का छमाछम बरसना आदि का कार्यक्रम, कलियों का चटकना, विक्षुब्ध समुद्र का महारव, मनुष्यों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ और विचित्र उच्चारण, खग, पशु, कीट, पतंग आदि की बोलियाँ ये सब उस संगीत के सहायक मंद्र और तार, स्वर और लय हैं। बज्रपात थाप है और नदियों का प्रवाह मूर्च्छना। ग्रामगीत प्रकृति के उस महासंगीत के अंश हैं।”

ग्रामगीतों पर उपर्युक्त कथन में त्रिपाठी जी कुछ अधिक काव्यात्मक हो गये हैं; पर इस कथन में सत्यता है। स्वाभाविक भाषा, वर्णन, मौन संकेत, और भावानुभूति की निकटता इन गीतों के सौन्दर्य हैं। और लगभग सभी ग्रामगीतों में प्रकृति की ओर कुछ न कुछ संकेत अवश्य रहता है। अतः प्रकृति के सुन्दर संकेतवाले कुछ गीतों को देखना चाहिए।

गार्हस्थ्य जीवन बिना बालकों के अधूरा है। चाहे जितना सुख और चाहे जितनी सुविधाएँ हों, चाहे कितनी धन-संसत्ति और वैभव हो, बिना बच्चों के सभी सूना है। यही भाव प्रकृति के प्रतीकों के माध्यम द्वारा नीचे की पंक्तियों में व्यक्त है:—

“आधे तलवा मा हंस चुने आधे मा हंसिनि;
तबहूँ न तलवा सुहावन एक रे कँवल बिनु।
आधी फुलबरिया गुलबवा आधी मा केवड़ा गमकइ,
तबहूँ न फुलवा सुहावन एक रे भँवर बिनु॥”

इत्यादि।

नीचे की पंक्तियों में प्रकृति का संकेत भरा वर्णन देखिये:—

“भोरे पिछवारे लवँगिया की बगिया, लवँगा फूल आधीरात रे।
तिहि तर उतर बुलरुआ, तुरही लवँगवा के फूल॥”

लौंग के फूल ‘तुरही’ के आकार के होते हैं। वे तुरही के आकार के

फूल मानो पति के आगमन की सूचना में बज उठते हैं। इससे यह भी संकेत है कि आधी रात का समय हो गया है; क्योंकि लौंग आधी रात को फूलता है। कितनी सुन्दर उपमा और कितना सुन्दर संकेत है। इसके अन्तर्गत ग्राम-भावाभिव्यक्ति की समृद्धि भरी दीखती है। इसी प्रकार प्रकृति का माध्यम लेकर एक करुण भाव का प्रकाशन देखिये:—

“बेइलि एक हरि लायनि, दुधवा सिचायेनि।

आप हरि भये बनजारा, बेइलि कुम्हिलानि।”

पेड़-पौधे, बेलों और पशु-पक्षियों तक में प्रेम की भावना देखना उनके बीच सदा रहनेवाले ग्राम्यजनों का ही काम है। हिंडोले के गीत के साथ यह वर्णन देखने योग्य है:—

“गहरी जमुनवाँ के तिरवा चनन गछ रहवा हो।

तिन डरिया परे हें हिंडोलवा भुलहि रानी रुकुमनि हो।

भुलतहि भुलत अबेर भा है श्रीरो देर भा है हो।

मेरा टुटला मोतिन केर हार जमुन जल भीतर हो।

धावहु बेगि चकइया तू हाली बेगि आवउ हो।

चकई ! चुनि लेव मोतिन क हार जमुन जल भीतर हो।

अगिया लगाबौ तोरा हरवा बजर परे मोतिन हो।

बहिनी संभवे से चकवा हेरान दूँढ़त नहि पायेंउ हो॥”

चकवी चकवे की खोज में है इसके द्वारा दाम्पत्य प्रेम कितना संकेत भरा वर्णन है। ऐसे ही नदी को सम्बोधित करके, एक स्त्री कहती है:—

“धीरे बहो, नदिया धीरे बहो, मोरे पिया उतरंगे पार।

काहे की तोरी नैया रे, काहे की करवारि।

कहाँ तोरा नैया खेवैया रे, के धन उतरइ पार।

धरमें कं मोर नैया रे, सत कइ लागि करवारि।

सैया मोरा नाव खेवैया रे, हम धन उतरब पार॥”

यह संक्षेप में अवधी के ग्रामगीतों की प्रवृत्ति का परिचय है। ऐसे ही सभी बोलियों में है। हिन्दी के ग्रामगीतों की संपत्ति अतुलनीय है। विशेष अवसरों पर, इसी प्रकार की गहरी भावना और ऊँची कल्पना तथा प्रकृति के वर्णन से समृद्ध मैथिली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, आदि के भी ग्रामगीत हैं जो भारतीय ग्राम-समाज के भावात्मक जीवन का परिचय देते हैं। प्रगीतात्मक काव्य के अन्तर्गत इनका विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी में गीतिकाव्य का विकास

गीतिभावना, कविता के अन्तर्गत सार वस्तु है। आधुनिक हिन्दी काव्य में इस भावना के दर्शन विविध और विशद रूप में होते हैं, और हम कह सकते हैं कि आज के कवि में गीतिकाव्य की प्रवृत्ति, प्रधान रूप से देखने को मिलती है। पर, यदि यह कविता की सार वस्तु है, तो इसका अस्तित्व काव्य-क्षेत्र में हमें सदैव से ही देखने को मिल सकता है। हम आगे देखेंगे कि गीति की स्पष्ट सत्ता के न रहते हुए भी किस प्रकार यह भावना हमें प्राचीन, मध्य और वर्तमान सभी कालों में विद्यमान मिलती है। सबसे पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि गीति-भावना का क्या महत्व है और कविता के अनेक रूपों के अन्तर्गत इसका अस्तित्व किस प्रकार रहता है। पद्य काव्य या कविता के तीन रूप हम देख सकते हैं। एक तो नाटकीय कविता, दूसरी प्रबन्ध-कविता और तीसरी मुक्तक कविता।

इन तीन रूपों में मुक्तक कविता के अन्तर्गत, कुछ नीति-उपदेश-युक्त साधारण कविता को छोड़कर प्रायः गीति-भावना, प्रधान रहती है। गीति-भावना की विशेषता को हम तीन रूपों में देख सकते हैं। प्रथम गेयत्व है, द्वितीय स्वानुभूति का भाव और तृतीय कोमल भाव की सघनता है। अतः गेयत्व और सघन आत्मानुभूति जिस कविता में एक साथ पाई जाती हैं, उसी को गीतिकाव्य मानना चाहिए। उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ यथार्थतः उसकी आभ्यन्तर और बाह्य विशेषताएँ हैं। हम गीति की आभ्यन्तर विशेषता इस बात में मानते हैं कि उसके भीतर आत्मा की,—अपनी निजी-अनुभूति प्रगट हो। वर्णन चाहे किसी वस्तु का ही हो, पर गीति के भीतर आकर वह वर्णन वस्तु का सामान्य, कल्पनागत वर्णन न रह कर, कवि की अपनी अनुभूति के भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है और वह न केवल वस्तु की आत्मा और उसकी विशेषताओं का ही परिचायक होगा, वरन् उसके भीतर कवि की आत्मा, उसकी भावनाएँ, प्रतिबिम्बित और झाँकती हुई मिलेंगी। अतः गीति की प्रमुख विशेषता आत्मानुभूति हुई।

इस विशेषता के अन्तर्गत कवि की अनुभूतियों का प्रकाशन, उसकी अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर, अवश्य रहता है पर हम उसे देख नहीं सकते। हम यह अवश्य देख लेते हैं, कि कवि की भावना बड़ी सबल है और सीधे हमारी अनुभूतियों और प्रेरणाओं को जगाती चलती है। कवि की पावन, शुद्ध पारदर्शी दृष्टि, वस्तु के भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्य तथ्य देखती है जो हमारे लिए नवीन होकर भी सत्य और तथ्यपूर्ण हैं। यह कवि की सूक्ष्म है, उसकी पवित्र व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलनेवाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णन को इतना अपना लेती है कि वस्तु, अपनी—हृदय की सगी—हो जाती है और अपनाव के साथ-साथ हमारी असंख्य भावनाएँ उससे सम्बन्धित होकर ऐसी जाग उठती हैं कि फिर उनको सुलाना कठिन है। वे जग कर एक प्रेरणा भरती हैं और तब हम समझते हैं कि कवि कितना प्रतिभा-सम्पन्न और अन्तर्दर्शी है।

गीति की अन्य विशेषता भी जो उसके वाह्य रूप से सम्बन्ध रखती है, यथार्थ में उसकी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित है। अनुभूति की तीव्रता में कवि स्वाभाविक रूप से गा उठता है, उसके सहज उद्गार गेय रूप में ही प्रवाहित होते हैं। अतः गीति की गेयता भी स्वतःसिद्ध-सी है। गेयत्व का एक और रहस्य है। किसी भी भाव का अनुभव हम बार-बार करना चाहते हैं। गीति की स्वर-लहरियाँ ऐसी ही होती हैं कि बार-बार कही जाकर अनुभूति पर मधुर प्रभाव डालें। बार-बार कहने पर आनन्द देना गान की विशेषता है। साधारण बात को हम उतने ही बार कह कर प्रत्येक बार वैसा आनन्द नहीं ले सकते जितना किसी गान की एक पंक्ति को सैकड़ों बार दुहरा कर पाते हैं। स्वर की दीर्घता और संक्षिप्ति अनुभूतियों को उकसाती है, उसकी कोमलता कानों को मधुर लगती है और संवादन कल्पना को सजग और विकसित कर देता है। अतः 'गीति' की गेयता उसका आवश्यक गुण है।

अब हमें देखना यह है कि कविता का मुख्य सार यही गीति-भावना है। कविता के जो अन्य रूप मिलते हैं उन्हें काव्य के अन्य रूपों की विशेषताएँ मिलकर वह रूप देती हैं, पर सूक्ष्मतः विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कविता की विशेषता गीति-भावना के रूप में प्रायः विद्यमान रहती है। अतः हम विभिन्न स्वरूपों को लेकर अलग-अलग उसका विश्लेषण कर इस बात पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम नाटकीय कविता को लेते हैं। इस प्रकार की कविता में

कवि अपनी भावनाओं को विभिन्न पात्रों के वार्तालाप के माध्यम-द्वारा प्रकट करता है। इसमें कवि की भावना सीधे ढंग से न प्रकट होकर दूसरों की अनुभूतियों के रूप में प्रकट होती है। इसमें वार्तालाप का, जो नाटक या उपन्यास का उपकरण है, आश्रय कवि लेता है, पर यह बात उसे कविता तब तक नहीं बनाती, जब तक कि, कवि स्वयं पात्रों में प्रवेश करके, उस पात्र की आत्मानुभूति को प्रकाशित नहीं करता। कवि जब किसी पात्र की आत्मानुभूति अभिव्यंजित करने में इस प्रकार समर्थ होता है कि पात्र के व्यक्तित्व अथवा उसकी आत्मा की भाँकी मिला मके, तभी उसका काव्य सफल है। वाह्य रूप की अथवा उपकरण की विभिन्नता होते हुए भी 'गीति-भावना' का जो स्वानुभूतिक तत्व उसमें विद्यमान रहता है वही उसे कविता का रूप देता है। अतः कवि की मुख्य विशेषता, नाटकीय कविता में भी 'गीति भावना' के रूप में छिपी रहती है।

प्रबन्ध-काव्य में कविता, कथानक का सहारा लेकर चलती है, अतः घटना-धारा का सौंदर्य भी उसमें आ जाता है पर यदि वह कविता है तो उस धारा में कवि की अपनी अनुभूति घुली-मिली अवश्य रहती है ; कहीं-कहीं तो नाटकीय कविता की भाँति और कहीं-कहीं दर्शक के वर्णन की भाँति। इस प्रबन्ध-कविता में भी आनन्द की मात्रा आत्मानुभूति के साथ-साथ प्रखर होती जाती है, नहीं तो गतिमय उद्गारों और आत्मानुभूति के अभाव में प्रबन्ध-कविता और कहानी या उपन्यास में कोई अन्तर नहीं रहता।

उपर्युक्त विश्लेषण के उपरान्त हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक, गतिमय और गेय स्वर-लहरी में प्रकट होती है तो 'गीति' हो जाती है, अन्यथा अन्य उपकरणों और शैलियों का सहारा लेकर अन्य रूपों को धारण करती है। इसी स्वानुभूति की प्रधानता होने के कारण ही, कबीर तथा निर्गुण साधकों को, कवि बनने का उद्देश्य न रहते हुए भी, कवि का गौरव मिला और इसी के अभाव में कुछ कवि पूरे उपकरणों को लेकर चलते हुए भी प्रभावशाली कविता की सृष्टि न कर सके। अतः हम देखते हैं कि कविता के क्षेत्र में 'गीति' का अपना महत्व है।

यहाँ पर गीति-काव्य के सम्बन्ध में यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि प्रत्येक गीत या गान, गीति-काव्य के अन्तर्गत रहता है। गीति के भीतर वही पद रखे जा सकते हैं जो लेखक की अपनी अनुभूति को अपने रूप में प्रकट करनेवाले हों; अन्य पद नहीं। इसी प्रकार कवि के स्वानुभूति-सम्बन्धी

वे कथन भी गीति के क्षेत्र के बाहर हैं जो सहज तथा स्वाभाविक नहीं हैं और जो गाये नहीं जा सकते अथवा जो नीति या उपदेश के रूप में हैं। अतः जहाँ पर दोनों ही विशेषताएँ मिलती हैं वहीं पर हम 'गीति' काव्य पाते हैं। गान या पद वे हैं जो संगीत के स्वरों के नियमानुसार, साज पर गाये जा सकें, उनमें आत्मानुभूति हो या न हो। गीति में आत्मानुभूति होनी आवश्यक है, पर उसका गेय संगीतात्मक शब्दचयन में ही बहुधा रहता है। गीति को हम दो रूपों में देख सकते हैं—एक शुद्ध गीति और दूसरे प्रगीतमुक्तक। शुद्ध गीति में स्वानुभूति-निरूपण करनेवाले गीत हैं जिनमें प्रायः प्रथम या द्वितीय पंक्ति टेक के रूप में पद पूरा होने पर दुहराई जाती है और प्रगीतमुक्तक के अन्दर वे अन्य छन्द हैं जिनमें स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन, संगीतात्मक शब्दों में होता है; वे ललित स्वर के साथ पढ़े जा सकते हैं, शास्त्रीय पद्धति पर 'सेट' करके चाहे गाये न जा सकें। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय साहित्य का अधिकांश गेय काव्य, गीति के क्षेत्र से बाहर है, क्योंकि उसमें दोनों विशेषताएँ एक साथ नहीं मिलती हैं। परम्परा के रूप में हिन्दी-काव्य को संस्कृत से गीति के रूप में अधिक प्रेरणा नहीं मिली। जयदेव के 'गीत गोविन्द' का प्रभाव विद्यापति तथा अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियों पर अधिक पड़ा। 'गीत गोविन्द' तथा विद्यापति के गीतों में शुद्ध गीति-भावना हमें देखने को नहीं मिलती और यही तथ्य अधिकांश में अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियों के पदों के सम्बन्ध में भी सत्य है। ये कवि प्रायः राधाकृष्ण की लीला का वर्णन एक दर्शक के रूप में करते हैं और अन्तिम चरण में अपनी छाप डालने के साथ-साथ यह भाव भी प्रकट कर देते हैं कि वे भी उस वर्णन में कहीं दर्शक के रूप में और कहीं वर्णन करनेवाले के रूप में उपस्थित थे। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम विद्यापति, सूर, नन्ददास आदि के कुछ पदों को उद्धृत करेंगे, जिनमें उन्होंने कृष्ण-लीला का वर्णन किया है और जो उनके काव्य के प्रतिनिधि पद कहे जा सकते हैं। प्रथम हम विद्यापति के विरह-प्रसंग का एक पद लेते हैं:—

“मधुपुर मोहन गेल रे मोरा बिहरत छाती ।

गोपी सकल बिसरलनि रे जल छल अहिबाती ॥

सूतलि छलहुँ अपन गृह रे निन्दइ गेलउँ सपनाइ ।

कर सों छूटल परसमनि रे को न गेल अपनाइ ॥

कत कहबो कत सुमिरब रे हम भरए गरानि,
 आनक धन सो धनवंती रे कुब्जा भेल रानि ।
 गोकुल चान चकोरल रे चोरी गेल चंदा,
 बिछुड़ि चललि दुहु जोड़ी रे जीव दइ गेल धंदा ।
 काक भाख निज भाषह रे पहु आओत मोरा,
 खीर खाँड़ भोजन देब रे भरि कनक कटोरा ।
 भनइ 'विद्यापति' गाओल रे धरज धरनारी
 गोकुल होयत सोहाओन रे फेरि मिलब मुरारी ।”

उपर्युक्त पद में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की विरह-दशा का वर्णन है। उनके भीतर कृष्ण के चले जाने पर दुःख, पश्चात्ताप, खीभ, ग्लानि और साथ-ही-साथ आशा के भावों का संचार हो रहा है; पर है यह वर्णनमात्र। विद्यापति इसका वर्णन करते हैं, उनकी अपनी भावनाएँ ये नहीं हैं। वे तो उपदेशक-रूप में गोपियों को धैर्य धारण करने का ही उपदेश देते हैं और यह आशा दिलाते हैं कि गोकुल में कृष्ण प्रायेंगे और गोकुल सुहावना होगा। पूरे गीत में विद्यापति की कवि के रूप में स्वानुभूति नहीं, वरन्, दूसरे की अनुभूति के रूप में है। अतः हम शुद्ध गीतिभावना के अन्तर्गत इसे नहीं रख सकते।

इसी प्रकार सूरसागर से भ्रमर-गीत-प्रसंग के अन्तर्गत हम बहुत ही अधिक गीति-भावना के समीप आ सकनेवाले नीचे लिखे पद को लेते हैं—

“फूल बिनन नाँह जाउँ सखी री ! हरि बिन कैसे बोनौ फूल !

सुन री, सखी ! मोहि राम दोहाई फूल लगत तिरसूल
 वे जो देखियत पुराते राते फूलन फूली डार ।

हरि बिन फूल भार से लागत भरि भरि परत अँगार ॥”

×

×

×

“कैसे कै पनघट जाउँ सखी री ! डोलौ सरिता तीर ।

भरि भरि जमुना उमड़ि चली हैं इन नैनन के नीर ।

इन नैनन के नीर सखीरी ! सेज भई घर नाउ,

चाहति हौं याही पै चढ़ि कै श्याम मिलन को जाउँ ।

प्राण हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय ।

सूरदास के प्रभु सों सजनी कौन कहे समुझाय ।”

सूरदास के ऊपर लिखे पद में गोपियों को दशा का वर्णन है। अपनी विवशता, अपनी उत्कंठा, अपने दुःख की भावनाओं का वर्णन एक गोरी दूसरी सखी से करती है। सूरदास का सम्बन्ध इस भावना से इतना ही है कि कृष्ण, जो गोपियों के पति हैं, सूर के भी प्रभु हैं। पर गीति में वर्णित भावनाएँ सूर की अपनी स्वानुभूत भावनाओं के रूप में नहीं हैं। सगुणोपासक भक्त कवियों के गीतों में जहाँ भी कृष्ण तथा राम की जीवन-लीला का वर्णन है, वहाँ पर न सूर और उनके साथियों में और न तुलसी ही में शुद्ध गीति-भावना पाई जाती है। हाँ इनके विनय-गीतों में गीति-भावना सहज रूप में विद्यमान है और इस कथन की पुष्टि के लिए हम सूर के विनय-पदों और तुलसी की विनयपत्रिका के गीतों को देख सकते हैं। विनय-गीति की उत्कृष्ट भावना हमें इनमें खेलती हुई मिलती है।

हिन्दी की भक्ति-धारा के अन्तर्गत शुद्ध गीति-भावना हमें कबीर, दादू आदि निर्गुण उपासकों में, मीरा के काव्य तथा तुलसी की विनय-पत्रिका में देखने को मिलती है। निर्गुणियों की तो स्वानुभूति, उनकी साधना का तत्त्व और केन्द्र-बिन्दु है; और उन्होंने उसे अपने ही रूप में बिना किसी रूपक का सहारा लिये व्यक्त किया है। अतः निर्मल गीति-प्रवाह निर्गुणधारा के काव्य में बहा है। कबीर कहते हैं—

“मैं अपने साहब संग चली।

हाथ में नरियल मुख में बीड़ा, मोतियन माँग भरी।

लिल्ली घोड़ी जरब बछेड़ी तापे चढ़ि के चली ॥

नदी किनारे सतगुरु भेंट, तुरत जनम सुधरी।

कहैं कबीर सुनो भाई साधौ, दोउ कुल तारि चली ॥”

इस पद में जो कुछ भी वर्णन है, कबीर ने स्वानुभूत रूप में किया है, किसी अन्य प्रसंग को न लेकर अपने आपको उस अवस्था में डाल कर कबीर ने आत्मिक अनुभूति को व्यक्त किया है। गेय है ही अतः ‘गीति’-भावना का शुद्ध रूप है। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्य कवियों—दादू, नानक, धना, पीपा, बुल्ला, दरिया, मलूक आदि में भी हमें इसी प्रकार के उद्गार देखने को मिलते हैं, पर इनमें काव्य-सौन्दर्य और अनुभूति की वह स्वाभाविक तीव्रता नहीं मिलती जो हमें मीरा के पदों में प्राप्त होती है। मीरा को भक्तिकालीन गीतिकारों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी गीतियाँ, उनकी अनुभूतियों के स्वाभाविक उद्गार हैं; और वे उद्गार इतने तीखे और सरस हैं कि सुननेवाले को अपने प्रभाव में बहा ले जाते हैं। चाहे

प्रेम-भावना हो, चाहे विरह, दोनों के ही वर्णन में जिस सत्यानुभूति के दर्शन हमें मीरा में होते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। मीरा का एक पद देखिये:—

“आली री मेरे नंगां बान पड़ी ।

चित्त चढ़ी मोरे माधुरी मूरति उर बिच आनि अड़ी ।

कब की ठाढ़ी पंथ निहारूं अपने भवन खड़ी ॥

कैसे प्राण पिया बिन राखूं जीवनमूरि जड़ी ।

‘मीरा’ गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहें बिगड़ी ॥”

मीरा की कृष्ण-सम्बन्धी विरहानुभूति बड़ा तीव्र है। भक्त की स्वाभाविक भक्ति के साथ-साथ ‘गीति’ का निर्मल धवल स्रोत मीरा के पदों में बहता हुआ मिलता है। तुलसी की विनय-पत्रिका में सेवक-सेव्य भाव का प्रकाशन है, पर मीरा की भक्ति, माध्यमभाव की है, यही अन्तर है। इस रूप में मीरा का दरजा तुलसी के ही समान है। सगुणोपासक कवियों में तुलसी की विनय-पत्रिका, शुद्ध गीति-भावना का उत्कृष्ट नमूना है। भाव की तीव्रता, सत्यता और सघनता तुलसी और मीरा में एक है, पर आलंबन के भाव में अन्तर है। मीरा का एक पद देखिये:—

“नैनन बनज बसाउँ री जो में साहब पाऊँ ।

इन नैनन मेरा साहब बसता, डरती पलक न लाऊँ री ।

त्रिकुटी महल में बना है भरोखा, तहाँ से भाँकी लगाऊँ री ॥

सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री ।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री ॥”

इस पद से प्रकट है कि मीरा में कृष्ण-भक्त सगुणोपासकों का और निर्गुण-साधना का पूरा प्रभाव था। निर्गुणियों की आध्यात्मिक ऊँचाई, और कृष्ण-भक्ति की सरस माधुरी, दोनों का ही सुखद सम्मिश्रण मीरा में हुआ है।

तुलसी की गीति-भावना में दास्यभाव की उपासना है, पर यदि प्राचीन-काल में अकेला कोई हिन्दी ग्रन्थ शुद्ध गीतिभावना को लेकर लिखा गया, कहा जा सकता है, तो यह ‘विनय-पत्रिका’ है। आत्म-समर्पण की कितनी सहज भावना नीचे लिखी पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

“जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।

काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ॥”

‘गीति’ के भक्ति-सम्बन्धी ऊपर कहे गये रूपों को छोड़कर अन्य लौकिक भावनाओं के अन्तर्गत, हिन्दी के पूर्वकालीन काव्य में, गीति-भावना का प्रवेश

नहीं हुआ। यत्र-तत्र रीतिकालीन काव्य में (जैसे रसखान, घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर आदि की कविता में) हमें स्वानुभूति के दर्शन लौकिक प्रेम के आश्रय में मिलते हैं, पर उनमें भी छाया कृष्णभक्ति की है। साथ-ही-साथ ऐसे उद्गार गीतों के रूप में कम प्रवाहित हुए हैं किन्तु इन्हें हम 'प्रगीत मुक्तकों' की कोटि में रख सकते हैं, क्योंकि कोमल भाव का घनीभूत प्रकाशन, स्वानुभूति और संगीतात्मक मधुर शब्दावली हमें देखने को मिलती है। रसखान, घनानन्द, ठाकुर, बोधा के काव्य में अधिकांश प्रगीतात्मकता है। घनानन्द का नीचे लिखा छन्द इसका सुन्दर उदाहरण है—

“सूने परे दृग भौन सुजान जे ते बहुरे कब आय बसाय हो।

सोचन ही मुरभ्यो पिय जो हिय सौ सुख सोच उदेग नसाय हो ॥

हाय दई घनानन्द हूँ करि कौ लौ वियोग के ताप तपाय हो।

ए हो हँसी जिन जानो हहा हमें खाय कहौ अब काहि मसाय हो ॥”

इसमें प्रेम-प्रगीत का सुन्दर रूप है। इन स्वच्छन्द कवियों और भक्तों के उद्गारों को छोड़ कर गीतिभावना के विविध रूप हमें पूर्वकालीन हिन्दी-काव्य में नहीं मिलते। इसके कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि पूर्वकालीन काव्य में कवि अपनी लौकिक भावनाओं और कार्यों के विषय में मौन रहता था। कोई भी कवि हमें ऐसा नहीं मिलता जिसने अपना पूरा परिचय कहीं भी दिया हो। अपने विषय में अधिक कहना भारतीय कवि-पद्धति के अनुसार शालीनता के विरुद्ध बात समझी जाती थी। अतः ऐसी दशा में कवि अपनी लौकिक भावनाओं और अनुभूतियों को अपना कह कर कैसे गा सकता था? अतः गीति-भावना की मूल स्वच्छन्दता उस समय न थी। कवि एक निराक्षक और द्रष्टा के रूप में वर्णन करता था। इस बात का एक सुपरि-राम यह हुआ कि कुछ प्रबन्ध-काव्य हमें मिल जाते हैं। इसके विरुद्ध आधुनिक युग में गीति-भावना को पूरी स्वच्छन्दता मिलने पर प्रबन्ध-काव्यों और वस्तु-वर्णन को बड़ा धक्का सा लगा है; पर गीतिकाव्य खूब उमड़ा है।

आधुनिक युग में गीति-भावना के प्रबल प्रवाह के प्रमुख कारण हैं— परम्परा-त्याग और स्वच्छन्दता; अंग्रेजी गीति-काव्य का सम्पर्क; प्रकृति-प्रेम, अभाव या असन्तोष की भावना आदि। भारतेन्दु-युग में काव्य के विषयों में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। गीतिकाव्य को बल देनेवाली भक्ति और प्रेम-भावनाएँ जहाँ पर थीं वैसी ही रहीं, वहीं देश-प्रेम की नवीन भावना जाग्रत हुई जिनके अन्तर्गत आगे चलकर अनेक नाटक, प्रबन्ध-काव्य, उपन्यास आदि लिखे गये। साथ-ही-साथ इसने गीति-भावना को भी प्रेरित किया। देश-प्रेम को

लेकर लिखी गई बहुसंख्यक रचनाएँ भारतेन्दु-युग में विद्यमान हैं, जिनमें शुद्ध गाति-भावना हिलोरें लेती है। प्राचीन गौरव और आधुनिक दुर्दशा के चित्र, विवशता का संचार करते हैं और निरवलंबता की दशा में कवि देशोद्धार के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करते हैं। यह विवशता और निराशा की भावना देशगत होते हुए भी कवि की व्यक्तिगत भावना के रूप में प्रकट हुई है। भारतेन्दु जी की निराशा नीचे लिखे छन्द में व्यक्त हुई है—

“कहाँ परीक्षित कहें जनमैजय कहें विक्रम कहें भोज ।
नन्द वंश कहें चन्द्रगुप्त कहें हाय ! कहाँ वह ओज ।
काल विवश जो गए नृपति वे तो क्यों उनके बालक ।
भए न उनके सम काकी अज्ञा उपजे कुलघालक ।
हा ! कबहूँ वह दिन फिर ऐहें वह समृद्धि वह सोभा ।
कै अब तरसि तरिस मसूसि कै दिन जहें सब छोभा ॥”

‘भारत-दुर्दशा’ का नीचे लिखा वर्णन कितना हृदयद्रावक है:—

“जहें शक्य भए हरिचंदर नहुष ययाती, जहें राम युधिष्ठिर वासुदेव शर्पती ।
जहें भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती, तहें रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ।
अब जहें देखहु तहें दुःखहि दुःख दिखाई, हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥”

केवल भारतेन्दु ही की नहीं यह भावना भारतेन्दु के समकालीन अनेक कवियों की थी। प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्तव्यास, बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमघन’, राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक आदि ने देश-प्रेम की भावना को व्यक्तिगत बना कर अपने गीत लिखे हैं। राधाचरण गोस्वामी इस दरिद्र भारत के उद्धार की ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं:—

“प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए ।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ।
महा अविद्या राक्षस ने या देसहि बहुत सतायो ।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सबही विधिन गँवायो ।
जो कोऊ हित की बात कहत तौ कोपें सबही भारी ।
धरम-बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि-कहि देवें गारी ॥”

इन्हें हम ‘जागरण-गीत’ कह सकते हैं। इनमें ईश्वर को जगाने के बाद देश को जगाने का भाव आया और फिर नौजवान, किसान मजदूर, आदि को जगाने का भाव इसी देश-प्रेम को लेकर चलनेवाली धारा के भीतर उमड़ा

हैं जो अधिकांश प्रगतिशील काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। 'दिनकर' की हिमालय के प्रति कविता भी इसी भावना से ओत-प्रोत है, पर प्रगीतात्मकता का भाव इसमें पूर्वकालीन कवियों की अपेक्षा अधिक गम्भीरता, कला एवं सौन्दर्य के साथ व्यक्त हुआ है। कुछ पंक्तियाँ इसे सिद्ध करेंगी—

“मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार, दिव्य, गौरव विराट !	तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !	बृन्दा ! बोलो, घनइशम कहाँ ?
मेरी जननी के हिम किरीट !	ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
मेरे भारत के दिव्य भाल !	वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

यहाँ तक तो पूर्ववर्ती भावना का ही मेल है, पर आगे की पंक्तियों में इस भावना की सघन तीव्रता, पूंजीभूत साहस और आकुल क्रियाशीलता को सँजोकर कवि कहता है—

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा	तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
कर निज विराट स्वर में निनाद.	रे तपी ! आज तप का न काल,
तू शैलराट् ! हुंकार भरे	नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !	तू जाग जाग मेरे विशाल !

मेरी जननी के हिम किरीट !

मेरे भारत के दिव्य भाल !

नव-युग शंखध्वनि जगा रही

जागो नगपति ! जागो विशाल !”

‘जागरण’ की भावना के अन्तर्गत प्रगीतात्मकता नरेन्द्र की ‘प्रभातफेरी’ कविता में भी इसी प्रकार अन्तर्निहित है। ‘बन्दी’ को भारतीय मानव का प्रतीक मानकर कवि उसे मुक्त करने का भार अपने ऊपर लेता हुआ कहता है—

“आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ ; जागो रे नतशिर बन्दी ।

उन निर्जीव शून्य द्वासों में, आज फूँक दूँ लो नव जीवन

भर दूँ उनमें तूफानों का अगणित भूचालों का कंपन

प्रलय वाहिनी हो, स्वतंत्र हों तेरी साँसें बन्दी ।

जागो, पहचानो अपने को मानव हो समझो निज गौरव

अन्तस्तल की आँखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव,

अहंकार ओ, स्वाधिकार, दो पृथक् पृथक् पथ हैं बन्दी ।”

इन जागरण-गीतों में प्रायः कवि का 'आवेश' व्यक्त हुआ है। वह व्यग्र है और शीघ्र ही ऐसा परिवर्तन, ऐसी क्रांति चाहता है जिससे समस्त पर-वशता और दासता दूर हो जाय और मानव स्वच्छन्द हो अपने अधिकार प्राप्त कर सके। इसी क्रांति को जगाता हुआ 'अंचल' का कवि गा उठता है—

“भूखे ये भूचाल युगों के, भूखे ये तूफ़ान भयंकर ।
भूखी सर्वनाश की ये तस्वीरें जो अक़ुलातीं घर घर ।
एक तुम्हारी आहट पाते ही ओ आग-भरी लासानी ।
धू-धू बुझते दीप भभक घर-घर में फूँकेंगे कुरबानी ।
जागो अब तो धधक उठे लू से ये खेत लुटी हरियाली ।
कब से ये मजलूम बलाते ओ जलते अंगारों वाली ।
पाक करो यह सृष्टि दानवों से जिनने यह अनय मचाया ।
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इंकिलाब धिर आया!”

इस क्रांति की जागरण-प्रेरणा को फूँकनेवाला कवि स्वयं है। भाव का कवि से सीधा सम्बन्ध है; कथा या प्रसंग की आड़ नहीं है अतः गीत-भावना की धारा प्रधान है। इस प्रकार की भावना को लेकर आधुनिक काल में अनेक गीतियाँ लिखी गई हैं। प्रमुख कवि श्रीधर पाठक, मैथिली-शरण गुप्त, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, द्विवेदी, नरेन्द्र, दिनकर, अंचल, सुमन आदि हैं। गुप्त, प्रसाद और पन्त में यह भावना आवेश को लेकर चलनेवाली नहीं, वरन् सांस्कृतिक रूप ग्रहण करती है।

अंग्रेजी के कवियों में विशेष रूप से वड्सवर्थ, कीट्स, शेली आदि की रचनाओं के प्रभाव से आधुनिककालीन गीति-भावना को बड़ा बल मिला। विशेषकर छायावादी कवियों का पथ तो इन्हीं के प्रकाश में प्रशस्त हुआ, पर हम यह नहीं कह सकते कि छायावादी काव्य अपने सम्पूर्ण रूप और विकास में इनसे भिन्न नहीं है। इस काव्य की अपनी विशेषता है। जिसकी शैली और स्वच्छंदता की प्रेरणा अंग्रेजी काव्य से मिली है, पर भाव एवं संस्कृति की धारा अधिकांश अपनी है। इस प्रभाव के फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित गीतियों का विकास देखने को मिलता है।

प्रेम-गीति के अन्तर्गत मानव, नारी एवं देश के प्रति प्रेम की भावना प्रकट हुई है। मानव प्रेम का रूप आगे चलकर दलितों एवं पीड़ितों के प्रति सहानुभूति का रूप धारण करता हुआ दिखलाई देता है। कृषकों, मजदूरों,

भिखारियों के प्रति लिखे गये काव्य इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इस प्रकार की गीतियाँ निराला के 'भिक्षुक', 'विधवा', नवीन के 'जूठे पत्ते' आदि हैं। इस प्रकार की कविताओं में व्यक्तिगत भावना तो है, पर गेयत्व की मात्रा अधिक नहीं। साथ ही साथ मानव-प्रेम के रूप में अधिक न होकर सहानुभूति के रूप में ही रचनाएँ विशेष हैं। अतः इन्हें करुण-गीत कहा जाय तो विशेष संगत होगा।

देश-प्रेम का रूप ऊपर दिया जा चुका है। नारी-प्रेम स्वच्छंदतावाद की विशेष देन है। नारी के सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण पूर्वकालीन काव्य में हुआ है अवश्य, पर, उसमें प्रगीतात्मकता नहीं आ पाई। प्रगीतात्मकता आधुनिक युग की विशेषता है और नारी-प्रेम का स्वच्छंद प्रगीतात्मक चित्रण अधिकांश अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण ही हुआ है। प्रेमगीति के अन्तर्गत, प्रेम को सम्बन्धित करके भी लिखा गया है। साथ ही साथ नारी-पुरुष की पारस्परिक प्रेम-भावना का भी सुन्दर एवं मधुमय वर्णन हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से आनेवाले कवि—प्रसाद, पत, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, नपाली, अंचल, नरेन्द्र, दिनकर, बच्चन आदि हैं। इस भावना को लेकर तो अधिकांश, आधुनिक युग का गीति-काव्य निर्मित हुआ है। अतः ऐसे गीतिकार मिलना कठिन हैं जिन्होंने इसे बिल्कुल ही न ग्रहण किया हो। पर प्रमुख रूप से प्रतिनिधि कवि उपर्युक्त ही हैं।

‘नारी-रूप’ से अपना अगाध प्रेम स्पष्ट करते हुए पत ने लिखा है:—

“स्नेहमयि सुन्दरतामयि !

तुम्हारे रोम-रोम से नारि, मुझे है स्नेह अपार।

तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि, मुझे है स्वर्गागार।

तुम्हीं इच्छाओं का अवसान, तुम्हीं स्वर्गिक आभास।

तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्धान ॥

देवि ! माँ ! सहचरिपल्लव ! प्राण ! !”

नारी का पावन व्यक्तित्व, अपूर्व आकर्षण एवं प्रेरणा से पूर्ण है—पल्लव जिसका विश्लेषण पत ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है। गीति की ये पंक्तियाँ विषय और व्यक्ति दोनों पर प्रकाश डालनेवाली हैं:—

“तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा-स्नान।

तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान।”

नारी के सौन्दर्य, स्वभाव, कोमलता, करुणा, शांति, सहनशीलता आदि

गुणों की ओर संकेत करते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति आधुनिक कवियों में हुई है पर विशेष रूप से सौन्दर्य ने ही उन्हें आकृष्ट किया है।

प्रेम-सम्बन्धी समस्त भावनाओं को प्रकाशन देने के लिए आधुनिक कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाया है। स्थूल-सौन्दर्य-चित्रण एवं सामान्य भावनाओं को छोड़, सूक्ष्मता की ओर जाने के प्रयास में कवि ने प्रकृति को सजीव एवं भाव-सम्पन्न रूप में चित्रित किया है। अतः प्रकृति-प्रेम का प्रकाशन, प्रेम के प्रतीक-रूप में और स्वतंत्र आलंबन-रूप में, दोनों प्रकार से किया गया है। प्रकृति-चित्रण में गीतिभावना का समावेश अधिकांश कवियों में देखने को मिलता है; पर प्रमुख रूप से प्रकृति से आत्मा-भाव जोड़नेवाले कवि हैं—प्रसाद, महादेवी, पन्त, नरेन्द्र, और नेपाली। साधारणतया प्रकृति के रूप पर तन्मय होनेवाले कवि, पन्त और नेपाली हैं; इन्होंने अपनी भावना को प्रकृति-समर्पित-सा कर दिया है; उसके सौन्दर्य पर रीझकर ये आत्म-विभोर हो जाते हैं। पन्त को प्रकृति, स्नेहमयी लगती है, और उसके रूप में वे घुल-मिल जाना चाहते हैं। इतना ही नहीं वे उससे प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं। प्रकृति का रूप इतना लुभावना है कि वह वासना और संस्कार बन कर भीतर प्रवेश कर चुका है और नारी-रूप के लिए भी वे प्रकृति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

“छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
तज कर तरल तरंगों को
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रूभंगों से कैसे विधवा दूँ निज मृग सा मन ?”

नेपाली का प्रकृति के प्रति आकर्षण, पन्त की भाँति पवित्र नहीं, वरन् मादक है। वे उसके भीतर व्याप्त सजीवता के दर्शन कण-कण में करते हैं। ‘भोर’ का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

“हँसा कर डाल-डाल में फूल,
फूल में हँसते हो सुकुमार ।
उड़ाकर काले काले भृंग,
बसाते फूलों का संसार ।
भृंग का रूप तुम्हारी सृष्टि,
फूल के रंग तुम्हारे खेल ।

खिला कर फूल उड़ाकर धूल,

मिलाते तुम जीवन का मेल ।

भुरमुटों में छिपकर चुपचाप, हिलाते तुम प्राणों के पात ।

मार कर तुम किरणों के बान, खिलाते नयनों के जलजात ॥”

‘नेपाली’ का व्यक्तित्व प्रायः अपने ‘विषय’ से मिल कर एक हो जाता है और वर्ण्य और कवि में कोई अन्तर नहीं दीखता ।

प्रसाद, निराला और महादेवी का प्रकृति-प्रेम दार्शनिक और परम्परागत आधार लिये जान पड़ता है और प्रकृति के माध्यम से ये एक अलौकिक व्यक्तित्व के दर्शन करते हैं । प्रकृति के भीतर जो भी स्पंदन, क्रिया-कलाप, व्यापार हैं, वे सभी इनके लिए कुछ न कुछ संकेत और व्यंग्य-भरे हैं । निराला का प्रकृति-चित्रण परम्परागत उद्दीपन के रूप में विशेष है जहाँ प्रकृति सुखद एवं दुःखद मानव-भावनाओं को, सजग, सचेत अथवा प्रज्ज्वलित करती है । ‘गीतिका’ के एक पद में यह बात स्पष्ट है—

“बह चली अब अलि, शिशिर समीर ।

काँपी भीरु मुणाल-वृन्त पर,

नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर ।

प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर,

लख तो अहा ! अधीर !

बन-देवी के हृदय-हार से,

हीरक भरते हर-सिंगार के ।

बेध गया उर किरण-तार के,

बिरह-राग का तोर !

बिरह-परी सी खड़ी कामिनी,

व्यर्थ बह गई शिशिर-यामिनी ।

प्रिय के गृह की स्वाभिमानीनी,

नयनों में भर नीर ॥”

निराला के अधिकांश गीतों में गेयत्व और कवित्व अधिक है, पर स्वानुभूति का सीधा प्रकाशन कम है और यह भी भारतीय-परम्परा का प्रभाव ही है । इनके वर्णन में तीव्रता है, प्रकृति-श्रुति-सुलभ प्रभाव और स्वरूप का बड़ा चटकीला चित्रण और हृदयहारी विशेषण है, पर वह वर्णन शुद्ध, आत्मानुभूति रूप में कम है । एक दूसरा गीत देखिये—

“रूखी री यह डाल, बसन बासन्ती लेगी ।

देख खड़ी करती तप अपलक

हीरक-सी समीरमाला जप

शैल-सुता अपर्ण-अशना

पल्लव बसना बनेगी —वसन बासन्ती लेगी ॥”

प्रसाद जी प्रकृति के भीतर मानव-भावनाओं का अन्तर्नाद सुननेवाला कवि हैं। भावनाओं को प्रकाशन देने का माध्यम प्रकृति है; उसी के भीतर से ही, उसी की लीला और व्यापारों में ही, वे आभ्यन्तर भावनाओं का इंगित प्राप्त करते हैं। ‘भरना’ और ‘लहर’ आदि रचनाएँ इसी प्रकार हैं। प्रकृति के स्वरूप, मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों के प्रतीक-रूप में ही प्रसाद जी के चित्रणों में मिलते हैं। भावनाओं की प्रतीक ‘लहर’ को संबोधित करते हुए उन्होंने लिखा है—

“उठ उठ री लघु लघु लोल लहर ।

करुणा की नव अंगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाईं सी,

इस सूखे तट पर छिटक छहर !

तू भूल न री पंकज वन में जीवन के इस सूनेपन में,

ओ प्यार पुलक से भरी दुलक,

आ चूम पुलिन के बिरस अधर !

गीति-भावना प्रसाद जी में पूर्णतया विद्यमान है। पर इनके वर्णन में व्यापकता और उच्चता अधिक है, सघनता और तीव्रता उतनी नहीं। प्रकृति के साथ सघनता एवं तीव्रता की भावना महादेवी वर्मा में सबसे अधिक है। जिस प्रकार भक्तिकालीन गीतिकारों में ‘मीरा’ का प्रधान स्थान है उसी प्रकार आधुनिक गीतिकारों में महादेवी का। उनके लिए प्रकृति बड़ी ही सजीव, जागरूक और अनुभूति-संकुल है।

प्रकृति को सचेतन रूप में देखनेवाले कवियों में से प्रमुख पंत और महादेवी हैं। पर महादेवी जी की भावना अधिक तीव्र और मधुर है। गेयत्व भी इनमें अधिक है। इनमें आधुनिक गीतिकाव्य एक कलात्मक पूर्णता को प्राप्त हुआ है। जैसी सुन्दर और मधुर कलागीतियाँ इनकी रचनाओं में मिलती हैं वैसी अन्यत्र नहीं। हाँ, मीरा की भाँति ही इनमें भी बहनेवाली धारा एक ही है—प्रिय की विरहानुभूति। यह अनुभूति, प्रकृति के माध्यम से बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पा सकी है। एक गीति देखिये :—

“पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,

आज नयन आते क्यों भर भर ?

सकुच सजल खिलती शेफाली,

अलस मौलश्री डाली डाली;

बुनते नव प्रवाल कुंजों में,

रजत श्याम तारों से जाली;

शिथिल मधु पवन, गिन गिन मधुकुण

हरसिगार भरते हैं भर भर !

पिक की मधुमय बशी बोली

नाच उठी सुन अलिनी भोली,

अरुण सजल पाटल बरसाता

तम पर मृदु पराग की रोली,

तुम विद्युत बन, आओ पाहुन !

मेरी पलकों में पग धर धर !”

इस प्रकार स्वानुभूति और गेयत्व दोनों का मधुर सम्मिश्रण हमें महादेवी वर्मा के काव्य में मिलता है। प्रकृति उन्हें प्रेरणा देती है, वही प्रिय का संकेत करती है और उसी से वे पूछती भी हैं:—

“मुसकाता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

मोती बिखरातीं नूपुर के छिप तारक-परियाँ नर्तन कर,

हिमकण पर आता जाता मलयानिल परिमल से अंजलि भर;

आन्त पथिक से फिर आते

विस्मित पल क्षण मतवाले हैं।

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन !

रोम रोम में होता री सखि ! एक नया उर का सा स्पन्दन!

पुलकों से भर फूल बन गये

जितने प्राणों के छाले हैं।”

इस प्रकार प्रकृति और अपने में एक आन्तरिक आनुभूतिक साम्य की विशेषता महादेवी जी के गीतिकाव्य में मिलती है।

इस प्रकार कलागीति के अन्तर्गत शुद्धगीति और प्रगीत तथा उनके प्रेम-गीति, करुणगीति, जागरणगीति, संबोधगीति आदि भेद-प्रभेद देखे जा सकते हैं।

किन्तु गीतिकाव्य का विवरण पूरा न होगा यदि उसमें ग्रामगीति का उल्लेख न किया जाय। यहाँ ग्रामगीति में भी वही विशेषताएँ आपेक्षित हैं

जो कलागीति में, अर्थात् इनके भीतर भी कवि की तीव्र स्वानुभूति, मधुर कोमलता और संगीतात्मकता विद्यमान रहनी चाहिए । भेद-प्रभेद भी वही माने जा सकते हैं । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जो सांस्कृतिक महत्व ग्राम-गीतियों का है, वह कलागीतियों का नहीं, साथ ही साथ स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता, और गहरे, पारदर्शी एवं हृदयद्रावक संकेतों से जितना ग्राम-गीति-काव्य ओतप्रोत है उतना कला-गीति-काव्य नहीं । घरेलू विश्वासों एवं गहरी अनुभूतियों का सहज प्रकाशन ग्रामगीति की अपनी विभूति है । एक उदाहरण देखिये, बेटे की बिदा का प्रसंग है । ससुराल जाते समय अपने मायके के लोगों के भावों का संकेत वह किस मार्मिक ढंग से करती है, यह देखते ही बनता है:—

“सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रंगायों अनमोल ।
माया ने दीनों नौ मन सोनवाँ, कि दबुली ने लहर पटोर ।
भैया ने दीनों घड़न को घोड़िला, भोजी मोतिन को हार ॥ सावन०
माया के रोये ते नदिया बहति है दबुली के रोये सागर पार ।
भैया के रोये ते पटुका भीजत है, भोजी के बुड़-बुड़ आँस ॥
सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रंगायों अनमोल ॥”

पारिवारिक संस्कृति की विशेषता को लेकर चलनेवाली भावधारा इस गीति में जितनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यंग्य भी उतना ही प्रखर । एक नहीं अनेक लोक-गीतियाँ इसी प्रकार की विशेषताओं को लिये हुए हमारे गीतिकाव्य की समृद्धि और वैभव को बढ़ाती हुई हमारी लोक-संस्कृति की धारा को स्पष्ट करती हैं ।

हिन्दी गीति-काव्य के बने हुए प्रौढ़ रूप अभी उपर्युक्त साँचों में ही ढल पाये हैं । ओजपूर्ण, नवीन जागरण की गीतियाँ भी ऊर्मियों की भाँति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी काव्य-सरोवर में लहरा रही हैं, पर अभी उनको निश्चित रूप से ग्रहण करने में कुछ विलम्ब है । हिन्दी गीति-काव्य का भविष्य उज्ज्वल है । जिस प्रकार अभी तक उसकी तीव्रता बढ़ती रही है, आशा है उसी गति से आगे वह विविधता और सघनता भी धारण करेगा; पर यह अवश्य है कि गीति की स्वानुभूति के लिए अनुभूति की साधना विशेष अधिक मात्रा में अपेक्षित है । यदि यह अनुभूति व्यक्तिगत होती हुई भी अधिक व्यापक और सामाजिक हो सके, तो गीति-काव्य का सामाजिक उत्थान में महत्वपूर्ण योग हो सकता है ।

कवि-कोटियाँ

भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत, काव्यात्मा, कवित्व या काव्य-रमणीयता-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांतों की खोज और उनका विस्तृत प्रतिपादन हुआ है, साथ ही काव्य के विविध रूपों पर भी विचार किया गया है, किन्तु कवि-कोटियों पर अधिक साहित्य उपलब्ध नहीं। इस संबंध में निश्चित और तथ्यपूर्ण विवरण देनेवाले प्रमुखतया दो ही ग्रंथ हैं। प्रथम—राजशेखर कृत काव्यमीमांसा और द्वितीय क्षेमेन्द्रकृत कंठाभरण। अन्य अनेक कविशिक्षा से युक्त अथवा सैद्धान्तिक विवेचन की महत्ता रखनेवाले काव्यशास्त्रीय ग्रंथों, जैसे नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, वक्रोक्ति जीवितम्, ध्वन्यालोक, अलंकार शेषर, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि में इस विशेष विषय पर कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं। हिन्दी में लिखे गये काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी कवि-कोटियों पर कोई महत्वपूर्ण सामग्री नहीं। महत्वपूर्ण ग्रंथों में भी कवि-कोटियों अर्थात् कवियों के प्रकारों, वर्गों, भेदों या जातियों पर कोई उल्लेख न होने का एक कारण मेरी समझ में विषय की विवादग्रस्तता है। एक व्यक्ति यदि एक आधार पर वर्गीकरण करता है तो वह उस आधार की कम या अधिक महत्ता-सम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टि के कारण किसी को उत्तम या अधम कवि कह सकता है, जब कि दूसरा विपरीत आधार पर कोटि-निर्धारण करनेवाला व्यक्ति अपना निर्णय सर्वथा भिन्न दे सकता है। इसका एक और भी कारण हो सकता है। कवि-कोटियों के निश्चित हो जाने पर फिर सामान्य जन भी कवियों को उनमें से किसी कोटि में रख सकते हैं और इस प्रकार साधारण कवियों के प्रति अधिक सम्मान का अभाव भी जाग्रत हो सकता है। इसके साथ ही साथ अनेक भावुक या आलोचक जो स्वयं इस प्रकार की कोटियाँ निश्चित करते या मानते हैं, यदि कवित्वशक्ति की उत्कृष्टता से संपन्न न हुए, तो अपनी ही कसौटी पर कसे जाकर भी सम्मान के भाजन नहीं हो सकते। अतः इस प्रकार अधिक व्यापकता के साथ इस प्रकार के मापदंड को सर्वजन सुलभ करना उपयुक्त न समझा गया।

एक अन्य अधिक प्रकृत कारण हो सकता है कि यह विषय उस समय उतना अधिक महत्व का न समझा गया जिससे हम पर कुछ अधिक विचार किया जाय। किन्तु, कुछ भी हो, पक्षपातहीन एवं निष्पक्ष दृष्टि से कवि-कोटियों का निर्धारण काव्य और कवियों—दोनों की उत्कृष्टतावृद्धि में सहायक अवश्य हो सकता है। इसी विश्वास को लेकर इस विषय पर कुछ सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास इन पंक्तियों में किया गया है।

राजशेखर ने अनेक प्रसंगों में कवि-कोटियों का निर्देश किया है।

कवि का उपकार करनेवाली कारयित्री या रचनात्मक प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इसी के आधार पर तीन प्रकार के कवि भी होते हैं :—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। सारस्वत—सहजा प्रतिभा के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारवश जिसकी कवित्व - शक्ति प्रवृत्त होती है वह सारस्वत कवि है। आहार्या बुद्धि के द्वारा इस जन्म के अभ्यास से जिसकी कवित्व शक्ति जाग्रत होती है वह आभ्यासिक और जिसकी काव्यरचना उपदेश के सहारे ही होती है अपनी बुद्धि से नहीं वह औपदेशिक है।* काव्य सेवन के आधार पर भावक या समालोचक के चार भेद माने गये हैं—आलोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी।† ये भेद वास्तव में आलोचक के ही मानने चाहिए; किन्तु कुछ लोगों ने कवि के भी ये भेद माने हैं। इनमें—आलोचकी वह है जिसे अन्यो का काव्य अच्छा नहीं लगता है, सतृणाभ्यवहारी वह है जो सब कुछ पढ़ता है, जो कुछ भी कविता (छन्दबद्ध) कही जानेवाली रचना है, सभी का सेवन करता है; मत्सरी-ईर्ष्यावश दूसरों के उत्तम काव्य को भी न पढ़ता है और न सुनकर प्रशंसा करता है, केवल दोषों को देखता है तथा तत्वाभिनिवेशी वह है जो कि तत्त्व में प्रवेश करके उसे पहचान लेता है और ग्रहण कर लेता है। सूक्ष्मतया यदि हम विचार करें, तो ये वास्तव में आलोचक के ही भेद हो सकते हैं, कवि की प्रतिभा से इनका अधिक सम्बन्ध नहीं। कवि में भी ये उस भावयित्री प्रतिभा से सम्बन्ध रखते हैं, रचनात्मक या कारयित्री प्रतिभा से नहीं। केवल प्रतिभा के आधार पर किये गये वर्गीकरण में उत्तरोत्तर एक दूसरे से निम्नश्रेणी के वर्ग आये हैं और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सारस्वत उत्तम कवि हैं, आभ्यासिक मध्यम

*काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय, पृ० १३।

†काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय, पृ० १४।

कवि हैं और औपदेशिक प्रथम कवि हैं। इसके पश्चात् दूसरा आधार प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों का है इसमें से एक के आधिक्य और दूसरे की न्यूनता के आधार पर राजशेखर ने तीन भेद किये हैं—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि। श्यामदेव के विचार से एक दूसरे से उत्तरोत्तर बढ़कर हैं। राजशेखर के विचार से प्रत्येक अपने-अपने विषय में महत्वपूर्ण हैं, कोई किसी से घटकर या बढ़कर नहीं। काव्य कवि में कवित्व अधिक रहता है, अध्ययन और ज्ञान उतना नहीं। शास्त्र कवि में रस या भाव की संपत्ति अधिक नहीं रहती है, ज्ञान और अध्ययन अधिक रहता है। और उभय कवि में दोनों का ही महत्व रहता है। इस प्रकार से जब हम कवित्व की उत्तमता पर विचार करते हैं, तो वास्तव में सर्वोत्तम उभय ही है और शास्त्रकवि इन सबमें निम्नतम।

राजशेखर की दृष्टि से शास्त्र कवि तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम जो शास्त्र का निर्माण करता है, द्वितीय जो शास्त्र में काव्य का सन्निवेश करता है और तृतीय जो काव्य में शास्त्रीय अर्थ या शास्त्र के तत्वों को समाविष्ट करता है। इसमें कौन किससे बढ़कर या घटकर है इस सम्बन्ध में कोई भी मत-प्रकाशन नहीं, किन्तु काव्य के प्रसंग में द्वितीय ही सबसे बढ़कर समझा जाना चाहिए; क्योंकि कविकर्म का सबसे अधिक सम्बन्ध उसी से है।

काव्यकवि के प्रभेद काव्यमीमांसा में आठ कहे गये हैं—रचनाकवि, शब्द-कवि, अर्थकवि, अलंकारकवि, उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि और शास्त्रार्थ-कवि। ये भेद काव्य की आत्मा तत्व के आधार पर किये गये हैं। संस्कृत साहित्य में काव्य की आत्मा खोजते हुए, विभिन्न तत्वों के आधार पर अनेक काव्य-सिद्धान्त प्रचलित हुए हैं। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य में सब कुछ समझते हैं और उनकी रचना में अलंकारों की ही प्रधानता होती है, ऐसे कवि को अलंकार कवि कहते हैं। उसकी कृति में अलंकार-चमत्कार ही प्रधान होता है। इसी प्रकार 'वक्रोक्ति' या उक्ति वैचित्र्य को ही काव्य में सब कुछ माननेवालों का वक्रोक्ति सिद्धान्त था और जिनकी रचना में उक्ति-चमत्कार ही प्रधान हो उसे उक्ति कवि कहना चाहिए। रस को काव्य का सर्वस्व माननेवाला 'रस सिद्धान्त' रहा। अतः जो रस की अभिव्यक्ति काव्य में प्रधानतया करते हैं उन्हें रस कवि कहना चाहिए। रीति-सिद्धान्त के अनुसार रीति, मार्ग या शैली ही काव्य की आत्मा है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार जिस कवि की रचना में रीति, मार्ग या शैली की विशेषता हो उसे 'मार्ग कवि' कहना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि राजशेखर के समय तक

‘ध्वनि’ और ‘श्रौचित्य’ के सिद्धान्त प्रचलित नहीं थे, इसी से उन्होंने ध्वनि और श्रौचित्य के आधार पर कवियों के नामकरण नहीं किये ।

शास्त्रार्थ कवि वह है जो अपनी रचना में बड़ी सरसतापूर्वक शास्त्र के तत्व को निरूपित करता है ।

रचनाकवि वह है जिसके काव्य में वाक्य, शब्द या वर्ण के संगुम्फन का चमत्कार हो । अर्थ कवि के काव्य में अर्थ का चमत्कार प्रधान रूप से पाया जाता है । शब्द कवि में शब्द का ।

शब्द कवि के राजशेखर ने तीन प्रभेद किये हैं—नामकवि, आख्यात कवि और नामाख्यात कवि ।

नामकवि—वे हैं जिनकी रचना में नाम अर्थात् संज्ञा शब्दों की प्रधानता रहती है । आख्यात कवि की रचना में क्रिया की प्रधानता और चमत्कार रहता है और नामाख्यात में दोनों प्रकार के शब्दों का । यहाँ पर यदि हम ध्यान से देखें; तो शब्द कवि के सभी प्रभेद रचनाकवि के अन्तर्गत आ सकते हैं और रचना कवि, मार्गकवि का भेद हो सकता है । इस प्रकार से छः भेद ही रह जाते हैं । उनमें यदि ध्वनि और श्रौचित्य प्रधान कवि नामक दो भेदों को और जोड़ दिया जाय, तब आठ भेद आज भी माने जा सकते हैं । इस वर्गीकरण का आधार काव्य-सिद्धान्त हैं । राजशेखर के मत से उपर्युक्त कवियों के दो-तीन गुण जिन कवियों की रचना में पाये जाते हैं, वे साधारण, जिनमें पाँच-छः गुण पाये जाते हों, वे मध्यम और जिनकी रचना उपर्युक्त सर्व गुणसम्पन्न हो उसे महाकवि कहना चाहिए ।

पूर्वोक्त प्रतिभा के आधार पर किये गये सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियों में दश अवस्थाएँ राजशेखर ने मानी हैं—उनमें प्रथम दो में सात और औपदेशिक में तीन अवस्थाएँ हैं । दशों अवस्थाएँ ये हैं—

१. काव्य विद्या स्नातक वह है जो काव्य करने की इच्छा से काव्य और उपविद्याओं को ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में रहता है ।

२. हृदय कवि—वह है जो हृदय में ही कविता करता है उसे प्रकट नहीं करता ।

३. अन्यापदेशी—कवि वह है जो दोष-भय के कारण अपनी रचना को दूसरे की कहकर व्यक्त करता है ।

४. सेविता—कवि वह है जो काव्य का अभ्यास हो जाने पर किसी प्राचीन उत्तम कवि की छाया के रूप में कविता करता है ।

५. घटमान—जो निर्दोष भावपूर्ण किन्तु प्रबन्धहीन फुटकल रचनाएँ करता है, वह घटमान है ।

६. महाकवि—जो किसी भी प्रकार की प्रबन्ध-रचना कर सकता है वह महाकवि कहलाता है ।

७. कविराज—जो अनेक भाषाओं में अनेक रसों में स्वच्छन्दतापूर्वक विविध प्रबन्धों की रचना कर सकता है, वह कविराज है । संसार में ऐसे कवि त्रिरले होते हैं ।

८. आवेशिक—कवि वह है जो मंत्रादि के बल से काव्य करने की सिद्धि पाकर उन्हीं के आवेश में ही कविता कर सकता है ।

९. अविच्छेदी—जो जब इच्छा हो तभी किसी प्रतिबंध के बिना ही कविता कर सके, वह अविच्छेदी है ।

१०. संक्रामयिता—जो सिद्धमंत्र, कुमार कुमारियों को अपने मंत्रबल से कवित्व शक्ति का संक्रमण कर सकता है, वह संक्रामयिता* है । अभ्यास द्वारा सुकवि के वाक्य परिपक्व होते हैं ।

इसके साथ-साथ कविता करने के काल के आधार पर चार † प्रकार के कवि होते हैं :—प्रथम असूर्यभ्यश्य कवि है जो किसी गुफा के भीतर या घर में निष्ठा-पूर्वक काव्य-रचना करता है । उसके लिए प्रत्येक समय काव्य काल का है । द्वितीय निषण्ण कवि है जो काव्य क्रिया के लिए बैठकर कविता करता है । इसमें उतनी निष्ठा नहीं होती । इसकी रचना के वे सभी काल हैं जब वह इसमें दत्तचित्त है । तृतीय-दत्तावसर कवि है जो अपना अन्य सेवादि का कार्य करके समय प्राप्त होने पर कविता करता है । इसके लिए ब्राह्म मुहूर्त या सारस्वत मुहूर्त उत्तम काल हैं । चतुर्थ-प्रायोजनिक कवि वह है जो किसी उद्देश्य को लेकर काव्य करता है । इसके लिए जब कोई प्रयोजन प्रस्तुत होता है, वही उत्तम काल है ।

रचना के आधार पर कवि के चार भेद हैं—उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक एवं संवर्गक । उत्पादककवि नवीन उद्भावना कर नवीन रचना करता है । परिवर्तक दूसरे की रचना में कुछ उलटफेर और परिवर्तन करके अपनी कविता बना लेता है । आच्छादक दूसरों की रचना छिपा कर अपनी रचना बना लेता है और संवर्गक प्रगट रूप से खुल्लम खुल्ला दूसरे के काव्य को

*काव्यमीमांसा, पृ० २० अध्याय ५ ।

†काव्यमीमांसा, पृ० ५३ अध्याय १० ।

अपना कहकर प्रकाशित कर देता है। इनमें वास्तव में उत्पादक को ही कवि कहना चाहिए ; अन्य तो नकलची, चोर या डाकू हैं कवि नहीं।

दूसरों की उक्ति हरण करनेवाले कवि चार * प्रकार के हैं। इनकी अवस्था अयस्कान्त या चुम्बक के समान है। ये हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक।

भ्रामक कवि—पुराणादि की अप्रसिद्ध एवं दूसरों के द्वारा दृष्ट वस्तुओं का वर्णन करके दूसरों को अपनी मौलिकता के भ्रम में डालता है।

चुम्बक कवि—जो अपनी मनोहारी उक्तियों के द्वारा दूसरों के अर्थ को हरण करके उनमें कुछ-कुछ अपना रंग प्रदान कर देता है।

कर्षक कवि—जो अपने किसी लेख द्वारा दूसरों के वाक्य और अर्थों को खींच कर अपनी रचना में स्थान दे वह कर्षक है।

द्रावक कवि—दूसरों के अर्थ को अपनी रचना में बिना जाने हो जो ग्रहण करके नवीनता उपस्थित कर देता है, वह द्रावक कवि है।

काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने इन चारों को लौकिक कहा है। इसके साथ ही पाँचवाँ अदृष्ट परार्थदर्शी 'चिन्तामणि' नामक अलौकिक कवि का भी वर्णन किया है जिसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

चिन्तासम यस्य रसेक सूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसाथः ।

अदृष्टपूर्वो निपुणः पुराणः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥

जिसमें एक साथ अर्थ, रस, अलंकार आदि की विचित्र प्रभा रहती है जैसी पूर्वकालीन निपुण कवियों में भी देखने को नहीं मिलती, वह चिन्तामणि कवि है।

जिनके भाव नवीन हैं उनके लौकिक, अलौकिक और मिश्र ये तीन भेद हैं। अर्थ ग्रहण करनेवाले चार ऊपर कहे हुए कवि-भेदों की आठ-आठ भावापहरण क्रियाएँ ये हैं:—

किसी अन्य कवि की उक्ति के पहले और पीछे के क्रम को बदल कर ग्रहण करना व्यस्तक है। किसी विस्तृत उक्ति के किसी खंड को ग्रहण कर लेना, खण्ड कहा गया है। अतः ऐसी कविता करनेवाले कवियों को खण्डक कह सकते हैं। किसी संक्षिप्त उक्ति को विस्तृत कर ग्रहण करना तैल बिन्दु कहा जाता है। दूसरी भाषा की उक्ति को अपनी भाषा में ग्रहण करना नट-नेपथ्य

है। किसी काव्य के छन्द को बदल कर उसे ग्रहण करना छन्दो विनिमय है। किसी उक्ति के कारण को बदल देना हेतुव्यत्यय है। देखी हुई वस्तु को अपने स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना संक्रातक है। वाक्य और अर्थ दोनों का ग्रहण करना सम्पुट है। इस प्रकार ग्रहण करना प्रतिबिम्ब काव्य कहलाता है और इस प्रकार का परोक्तिहरण कवि को अकवि बना देता है। अतः इसका त्याग कर देना चाहिए।*

राजशेखर ने एक दूसरे प्रकार के भावापहरण का भी वर्णन किया है। जो आलेख्य प्रख्य कहलाता है। यह मार्ग अनुचित नहीं है। इसके प्रकार ये हैं:—

समक्रम—किसी की उक्ति के समान रचना करना।

विभूषण मोष—सालंकार उक्ति अलंकाररहित बना कर कहना।

व्युत्क्रम—किसी की उक्ति के क्रम को बदल देना।

विशेषोक्ति—पूर्ववर्ती सामान्य रूप को विशेष रूप में कहना।

उत्तंस—गौणभाव से कही उक्ति को प्रधानता देना;

नटनेपथ्य—उसी उक्ति को कुछ बदल कर ग्रहण करना।

एक परिकार्य—पूर्ववर्ती उक्ति के कारणभाग को ग्रहण करना, किन्तु कार्यभाग बदल देना।

प्रत्यापत्ति—विकृत रूप से कहे गये भाग को स्वाभाविक रूप से कहना।

यह हुआ 'आलेख्यप्रख्य' रीति से भावापहरण। तीसरा 'तुल्यदेहि तुल्य' मार्ग है जिसके भेद ये हैं:—

विषय परिवर्तन—किसी विषय में विषयान्तर का समावेश कर उस विषय का दूसरा रूप दे देना।

द्वन्द्वविच्छत्ति—दो प्रकार से वर्णित विषय के एक प्रकार को ग्रहण कर लेना।

रत्नमाला—पूर्ववर्ती काव्य के अर्थों को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करना।

संख्योल्लेख—पूर्वोक्त संख्या को बदल देना।

चूलिका—दो प्रकार की हैं—सम को विषम करनेवाली विषमवादिनी और विषम को सम करनेवाली संवादिनी रीति।

विधानापहार—विधान को बदल देना, निषेध को विधि रूप में कहना।

माणिक्यपुंज—बहुत से अर्थों को एक स्थान पर संगठित करना।

कन्द—कन्द रूप अर्थात् संहित अर्थ को कन्दल (अंकुर) अर्थात् व्यवहित व्यष्टिगत रूप में व्यक्त करना ।

यह मार्ग भी राजशेखर की दृष्टि से ग्राह्य मार्ग है ।*

इसके बाद परपुर प्रवेश † नामक भावापहरण की रीति के भेद कहे गये हैं ।

१. हुडयुद्धम्—एक प्रकार से निहित अर्थ को युक्तिपूर्वक बदल कर दूसरे प्रकार का कर देना ।

२. प्रतिकंचुक—दूसरे प्रसंग से एक प्रकार की वस्तु को दूसरे प्रकार से प्रगट करना ।

३. वस्तुसंचार—एक उपमान को दूसरे उपमान में बदल देना ।

४. धातुवाद—शब्दालंकार को अर्थालंकार में बदल देना ।

५. सत्कार—किसी वस्तु के साधारण वर्णन को उत्कृष्ट रूप में वर्णन करना ।

६. जीवञ्जीवक—पूर्ववर्ती सादृश्य को असादृश्य रूप में प्रगट करना ।

७. भावमुद्रा—प्राचीन वाक्य के अभिप्राय को लेकर प्रबन्ध लिखना ।

८. तद्विरोधी—प्राचीन उक्ति की विरोधी उक्ति कहना ।

इस प्रकार से भावापहरण करनेवाले कवियों के अनेक रूप काव्यमीमांसा में वर्णित हैं । ये जैसे तब थे वैसे अब भी हैं ।

कवि कंठाभरण में क्षेमेन्द्र ने भावापहरण करनेवाले छः प्रकार के कवियों का वर्णन किया है:—

“छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी ।

भवदेय प्राप्त कवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः ॥”‡

इनमें से छायोपजीवी—कवि वह है जो दूसरे कवियों के काव्य की छाया मात्र लेकर काव्य करता है । पदकोपजीवी—दूसरे के एकाध पद को लेकर अपनी रचना सजाता है । पादोपजीवी—छन्द का एकाध चरण लेकर अपने छन्द की पूर्ति करता है । सकलोपजीवी—समस्त रचना को ग्रहण कर अपनी कह देता है । प्राप्त कवित्व जीवी—जो कवि-शिक्षा को प्राप्त करके कविता

* का० मी०, अध्याय १३, पृ० ७५ ।

† कवि कंठाभरण, द्वि० संधि १ ।

‡ का० मी० अध्याय १३, पृ० ७५ ।

करता है और अपने उन्मेष, आवेश और प्रतिभा के बल पर जो काव्य करता है, वह भुवनोपजीवी कवि है। इनमें अन्तिम दो वास्तव में कवि हैं, और प्रथम चार तो पराश्रित हैं। क्षेमेन्द्र ने इसके बाद कवि-शिक्षा पर अपने ग्रंथ में विशेष प्रकाश डाला है, किन्तु कवि-कोटियों पर और अधिक विवरण उपलब्ध नहीं। अधिक विवरण अन्य ग्रंथों में उपलब्ध हो या न हो, किन्तु राजशेखर के काव्यमीमांसा में जो अतीव विस्तृत वर्णन हमें मिलता है ; वह बड़ा ही पूर्ण है और लगभग सभी प्रकार के कवियों को समेट लेता है।

वर्णरत्नाकर * में ज्योतिरीश्वर कवि शेखराचार्य ने राजदरबार के वर्णन प्रसंग में कवियों का उल्लेख किया है और कवि, सुकवि, सत्कवि और महा-कवि नामों का संकेत है, किन्तु इनके लक्षण नहीं दिये। भाट वर्णन में भी कवि गुण का उल्लेख मात्र है: पर उससे अधिक स्पष्ट नहीं होता।

केशवदास की कविप्रिया में कवि के तीन भेदों का वर्णन है। उत्तम, मध्यम और अधम। यह वर्गीकरण वर्ण्य विषय के आधार पर है ; जैसा कि निम्नांकित दोहे से प्रगट है—

“उत्तम, मध्यम, अधमकवि, उत्तम हरिरस लीन।

मध्यम बरनत मानुषनि, दोषनि अधम अधीन ॥”†

इस प्रकार ईश्वर का गुणगान करनेवाले उत्तम कवि, मनुष्यों का गुण वर्णन करनेवाले मध्यम कवि और दोषयुक्त रचना करनेवाले या गुणों को छोड़कर दोषों का दिग्दर्शन करनेवाले अधम कवि हैं। तुलसीदास की उल्लेख-दृष्टि से भी यही वर्गीकरण उचित जान पड़ता है।

कविजाति और कविभेद पर कुछ सामान्य उल्लेख जगन्नाथप्रसाद भानु के काव्य प्रभाकर में भी हुआ है। ‘रस रच्यनुसार’ कवियों की चार जातियाँ उन्होंने बताई हैं, जो हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार लिये हुए हैं। इनमें उनके मनोवैज्ञानिक स्तर, रुचि और प्रवृत्ति की ओर संकेत हैं। ‘भानु’ जी के अनुसार जिस कवि की रुचि शृंगार, हास्य, अद्भुत और शान्त रस पर रहती है वह ब्राह्मण कवि है, जिसकी रुचि रौद्र, वीर पर रहती है वह क्षत्रिय कवि है, जिसकी रुचि करुण रस पर हो वह वैश्य

* व० २० पृ० १० (डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की भूमिका सहित)

† कविप्रिया अध्याय ४, छन्द २।

कवि है और जिसकी रुचि वीभत्स और भयानक रस वर्णन की हो वह शूद्र कवि है ।*

इस प्रकार की कविजाति-निश्चय से कोई लाभ नहीं, क्योंकि एक तो सभी रस समान महत्त्व के हैं, किन्तु इस वर्ण-व्यवस्था से तुलना करने पर एक दूसरे में विषमता का भाव उत्पन्न होता है। वास्तव में रससिद्ध कवि तो सभी रसों के वर्णन में समर्थ होते हैं। इस वर्गीकरण पर ध्यान देने से तो फिर कठणा, वीभत्स और भयानक रसों पर लेखनी चलानेवाला भी कवि नहीं मिलेगा। अधम काव्य लिखनेवाले न हों, तो बात ठीक है, पर इन रसों पर लिखनेवाले न रहें यह ठीक नहीं। अतः यह जातिभेद काव्य में समीचीन नहीं।

इसी प्रकार भानु जी ने समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों के भी भेदों का निर्देश किया है। समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों की एक अलग कोटि अवश्य होती है, क्योंकि उनकी कल्पनाशक्ति एक निश्चित विषय, या पद या छन्द-बन्धन का आश्रय लेकर ही कार्य करती है। जब कि स्वच्छन्द कवि अपने भीतर की अनुभूति को व्यक्त करता है। भानु जी ने इन समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों के चार प्रकार माने हैं :—

प्रथम वे हैं जो अपने इष्टदेव की सहायता से विषय या समस्या का तथ्य समझ कर उस पर लिखते हैं, द्वितीय वे हैं जो किसी सामयिक घटना पर ढाल कर छन्द की रचना करते हैं। तृतीय वे हैं जो आश्रयदाता की रुचि देख कर, उसे उस समस्यापूर्ति में स्थान देने का प्रयत्न करते हैं और चतुर्थ वे हैं, जो समस्यान्तर्गत अर्थ के अनुकूल अपना छन्द ढालते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध कवि, या मनमौजी कवियों के अतिरिक्त ये समस्यापूरक कवि समझना चाहिए।

हिन्दी काव्य को सामने रख कर विभिन्न आधारों पर कवि-कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं, जिनका विवरण अति विस्तृत हो सकता है। अतः विस्तारभय से यहाँ पर उनका संक्षिप्त निर्देशन किया जावेगा। इनमें से अधिकांश राजशेखर की कवि-कोटियों में भी आ सकते हैं, पर हिन्दी काव्य के प्रसंग में उनका अलग ही वर्णन होना अपेक्षित है।

कथासूत्र या बन्ध के आधार पर काव्य-कोटि के अनुसार कवि की दो कोटियाँ हो सकती हैं—एक प्रबन्ध कवि और दूसरे मुक्तक कवि। मुक्तक

कवि किसी भी कथासूत्र को नहीं अपनाता—जब कि प्रबन्ध कवि कथा या चरित्र लेकर ही चलते हैं। प्रबन्ध कवि के दो आधारों पर भेद किये जा सकते हैं। यदि चरित्र या कथानक बहुत विस्तृत और पूर्ण हुआ, और कवि उसमें विभिन्न भावों और रसों का वर्णन करने में समर्थ हुआ, तो उसे महाकवि कहते हैं और यदि वह कथानक, समस्त वृत्त या चरित्र का एक अंश मात्र ही है, तो उसे खण्डक कवि कह सकते हैं। कथानक में यदि लौकिक या प्राकृत चरित्र का वर्णन है तो उसे प्राकृत कवि और यदि दिव्य या अलौकिक चरित्र का वर्णन है तो उसे अप्राकृत कवि कहेंगे।

छन्दों के आधार पर कवियों के तीन भेद किये जा सकते हैं। छन्द कवि, स्वच्छन्दकवि और गीति कवि। जो अपनी रचना में नियमित छन्दों का ही प्रयोग करते हैं वे छन्द कवि जो मुक्त या स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग करते हैं, वे स्वच्छन्द कवि और जो गीतों का प्रयोग करते हैं, उन्हें गीति कवि कहना चाहिए।

अभिव्यक्ति या प्रकाशन की प्रकृति के आधार पर कवि की दो कोटियाँ हैं—प्रथम मौन कवि, द्वितीय मुखर कवि। मौन कवि की रचना पाठक को केवल लिपिबद्ध रूप में पढ़ने के लिए ही मिलती है। जब कि मुखर कवि स्वयं ही अपनी वाणी से काव्य का आस्वादन श्रोताओं को कराता है। मुखर कवि के दो प्रमुख भेद हैं—एक गोष्ठी कवि और दूसरा सम्मेलनी कवि। गोष्ठी कवि दस-पाँच रसिकों की गोष्ठी में ही अपनी रचना सुनाता है। जब कि सम्मेलनी कवि बड़े-बड़े समारोहों, समाजों और कवि-सम्मेलनों में अपनी रचना सुनाते हैं। सम्मेलनी कवियों में अनेक प्रभेद हैं जिनमें से प्रमुख ये हैंः—समस्यापूरक कवि, कंठ कवि, अभिनय कवि, आशु कवि, एक छन्दोपजीवी कवि, भाव कवि, और भाषा कवि। समस्या कवि किसी समस्या को लेकर ही अपना चमत्कार दिखा सकता है। कंठकवि वह है जो अपने सुरीले और मधुर कंठ से साधारण कविता को ही इस प्रकार पढ़ता है कि सभी पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु जब कोई अपने आप एकान्त में उसे पढ़ता है तो कोई विशेष सार नहीं मिलता। अभिनय कवि कवि-सम्मेलन में पठित कविता के साथ-साथ अपने अंग-संचालन आदि से भावों का अभिनय भी करता जाता है। आशुकवि वह है जो किसी विषय या समस्या पर किसी समय तुरन्त कविता बनाता और कहता चला जाता है। यह राजशेखर के आवेशिक या अविच्छेदी कवि के समान ही है। एक छन्दोपजीवी कवि वह है जो किसी एक छन्द को ही प्रत्येक कवि सम्मेलन में सुनाया करता है। भावकवि वह है

जो अपने भाषा-चमत्कार के द्वारा जन-समुदाय को मुग्ध करता है। इन कवियों में ऐसे भी कवि हो सकते हैं जिनमें एक से अधिक विशेषताएँ विद्यमान हों। जिनमें अधिकांश विशेषताएँ हों उन्हें ही सिद्ध कवि कहना चाहिए। इनमें दूसरे और तीसरे प्रभेद को छोड़कर लगभग सभी प्रभेद मौन कवि के भी हो सकते हैं।

हिन्दी कवियों की कोटियों का निर्धारण एक और आधार पर करना आवश्यक है, वह है काव्यगत प्रवृत्तियों का आधार। इस आधार पर कवियों के अनेक भेद-प्रभेद देखे जा सकते हैं। जिनमें से प्रमुख भेदों का ही उल्लेख यहाँ किया जायगा जो ये हैं—भक्त कवि, नीतिकवि, रीति कवि, राष्ट्रकवि, छायावादी कवि, प्रगतिवादी कवि आदि। भक्त कवि वे हैं जिनका प्रमुख विषय भक्ति है—इन्हें हम तीन रूपों में देख सकते हैं—संत कवि, अवतारवादी कवि, रहस्यवादी कवि। संत कवि, निर्गुणोपासक और ज्ञानचर्चा करनेवाले हैं। अवतारवादी, सगुणोपासक और विविध भावों में भक्ति करनेवाले हैं। रहस्यवादी कवि वे हैं जो रहस्यभावन के द्वारा अपने और जगत् के भीतर एक दिव्य रूप और शक्ति का अनुभव करते हैं। अपने अनुभव के आधार पर जो लोक-व्यवहार की नीति का वर्णन करते हैं वे ही नीतिकवि हैं। रीतिकवि वे हैं जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों के उदाहरण-रूप अपनी रचना की है—इनके अलंकार, रस रीति, वक्तोक्ति, ध्वनि आदि के आधार पर अनेक प्रभेद हैं। राष्ट्रकवि वे हैं जो देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना को लेकर प्रमुखतया कविता करते हैं। छायावादी कवि नये प्रतीक-उपमान और लक्ष्यार्थों को लेकर अस्पष्ट अवलंबन के प्रति कविता लिखनेवाले कवि हैं। ये हिन्दी की आधुनिक मधुर शैली के प्रयोगवादी कवि माने जा सकते हैं। प्रगतिवादी कवि काव्य द्वारा लोक की प्रगति का सिद्धान्त लेकर रचना करनेवाले कवि हैं। इनके दो भेद हैं—प्रचारवादी और प्रगतिशील। प्रचारवादी कवि वे हैं जो अपनी रचनाओं द्वारा मार्क्सवाद या साम्यवाद का प्रचार करते हैं और प्रगतिशील कवि अपनी रचनाओं द्वारा हमारी समस्याओं पर प्रकाश डालते और यथार्थ जीवन का चित्रण कर प्रगति का आदर्श समुपस्थित करते हैं। इन्हें भी हम दो वर्गों में देख सकते हैं—एक तो जनकवि हैं जो सामान्य जनता के जीवन और समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और दूसरे समाज कवि हैं जो समाज की प्रगति का उद्देश्य रखकर अपनी कविता करते हैं। इनके भी अनेक भेद-प्रभेद हैं जिनका वर्णन विषय को अति विस्तृत कर देगा अतः यहाँ उनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार ऊपर की पक्तियों में अति संक्षिप्त रूप में भारतीय काव्य में प्राप्त कवि-कोटियों का निर्देश किया गया है। इन सबके उदाहरण भी जुटाये जा सकते हैं। यदि कवि कोटि निश्चय करने के उपरान्त हम उनकी रचना के उदाहरण भी देने का प्रयत्न करें तो अन्य अनेक भेद-प्रभेद ढूँढ़े जा सकते हैं। प्रस्तुत लेख के अंतर्गत हिन्दी काव्य की कवि-कोटियों में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया कि कौन घटकर और कौन बढ़कर है। उसे संस्कृत के वर्गीकरण के आधार पर ही जानना चाहिए वैसे इसका निर्णय सभी कर सकते हैं। निष्पक्ष विवेचन में तो लक्षण मात्र देने का प्रयत्न करना ही अलम है, क्योंकि तुलसी के शब्दों † में कौन बड़ा और कौन छोटा है, इसका निर्णय देना अपराध है।



† को बड़ छोट कहत अपराधू ।

गुनि गुन दोष समुझिहहि साधू ॥

रामचरितमानस, बालकांड ।

काव्य में वन और फूल*

युग-युग का साहित्य इस बात का साक्षी है कि काव्य को मानव-जीवन से कहीं अधिक प्रकृति से प्रेरणा मिली है । वेदों के रहस्यमय उषागीतों से लेकर आज तक के साहित्य में प्रकृति के अङ्ग-प्रत्यङ्गों ने कवि को मुग्ध कर उन पर अपना जादू चलाया है जिससे वह अपने अन्तस् में अनुभूति और कल्पना पर पड़े इनके प्रतिबिम्बों को सहज उल्लास, दीर्घ निःश्वास एवं गहन उच्छ्वास-मय उद्वेगों को गीत और छन्द का रूप दे सका है । प्रकृति के ये रूप न केवल आलम्बन ही बनकर आये हैं वरन् ये अन्य मानव-भावनाओं की अभिव्यञ्जना के हेतु प्रतीक और उपमान का रूप भी धारण करते रहे हैं । इनके माध्यम से जटिलतम, गहन एवं सूक्ष्म अनुभूतियों को भी साकार बनाने में कवि सफल हो सका है । प्रकृति के मोह को कवि कभी नहीं त्याग सका है । आज के कवि की वाणी इस मोह को स्पष्ट करती हुई कहती है:—

“छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया ।

बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ।”

रमणी का मधुर रूप और आकर्षक छवि भी कवि को प्रकृति की ओर से विमुख करने में असमर्थ रही है ।

प्रकृति के विविध रूप और अङ्ग हैं जो हमें गहरी प्रेरणा प्रदान करते आये हैं और काव्य में वे व्याप्त हैं । आकाश, मेघ, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, सन्ध्या, उषा, निशा, वन, उपवन, नदी, सागर, द्रुम, लता, फूल, हंस, पिक चातक, मोर आदि असंख्य वस्तुएँ हमारे साहित्य और जीवन में समायी हैं । इनमें वन और फूल का प्रमुख महत्व है और यहाँ हम इन्हीं दो प्रतीकों पर विशेष रूप से विचार करेंगे ।

वन और फूल दोनों से ही समस्त विश्व ने, और विशेष रूप से भारतीय काव्य ने बड़ी प्रेरणा पायी है । संस्कृत साहित्य के पूर्ववर्ती महाकाव्य तो वन के दृश्यों से ओतप्रोत हैं । उनका तो अधिकांश चित्रण वन के ही क्षेत्र में

* ‘ग्रॉल इंडिया रेडियो’ लखनऊ के सौजन्य से ।

हुआ है। उन महापुरुषों की रंगस्थली प्रायः वन ही हैं, इसके कई कारण हैं, एक तो यही कि उस समय हमारी भूमि में अधिक विस्तृत और हरे-भरे वन थे और जन-जीवन उनके सम्पर्क में बराबर आता था, द्वितीय आश्रम-व्यवस्था के कारण वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम तो वन में बीतते थे ही, गुरुकुल और आश्रम भी वनों में होने के कारण शिक्षा की अवस्था ब्रह्मचर्याश्रम भी वनों में ही बीतता था, अतः उनका जीवन प्रकृतिमय था। वन ही उस समय के लीला-क्षेत्र थे, अतः आश्रम, तपोवन, यात्राक्षेत्र के रूप में तो वनों का वर्णन है ही, साथ ही प्रकृति के विभिन्न रूपों में और दृश्यों का लीलाक्षेत्र और रंगस्थल होने के कारण जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में भी हमारा प्राचीन साहित्य वन के वर्णनों से भरा पड़ा है। यहाँ दो-एक उदाहरण दिये जाते हैं:—

आदि कवि वाल्मीकि के रामायण के अरण्यकांड में वनवास प्रसंग में वर्णन है:—

“अवश्यायनिपातेन किञ्चित्प्रक्षिन्नशाद्वला
वनानां दृश्यते भूमिनिविष्टतरुणातपा ।
अवश्यायपरिभ्रान्ताः नोहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव दृश्यन्ते समन्ताद् वनराजयः ॥”

कवि-कुल गुरु कालिदास ने रघुवंश में दिलीप के गोचारण-रत जीवन का दृश्य उपस्थित करते हुए संकेत किया है:—

“अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जाया प्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनमृषेर्मुमोच ॥”

साथ ही प्रकृति का लीला-क्षेत्र, सुमनों की क्रीड़ा-भूमि वनस्थली का वसंत में दृश्य देखिये :—

“कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तबन् षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्बुध्नवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरितः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मितावनराजिषु ॥

इस प्रकार वन और फूल दोनों ही कवि को एक विलक्षण उल्लास, गति और मस्ती प्रदान करते हैं जिसमें भ्रूमकर वह संगीत की अजस्र तरंगिणी प्रवाहित करता जाता है।

वन और फूलों को देखकर कौन मुग्ध नहीं होता, विशेष रूप से उनके वासन्ती रूप, शोभा और छवि को देखकर तो बड़े-बड़े मुनियों के ध्यान टूट जाते हैं। सिद्धहस्त कविकर्मकुशल कवियों को जानें दीजिये। सूफी प्रेमाख्यानकार कवि शेखनिसार ने अपने ग्रन्थ 'यूसुफ-जुलेखा' में वर्णन किया है :—

“रितु बसंत बन आदिन फूला । जोगी जती देखि रंगु भूला ।
 फूले फूल अली गुंजारहि । लागी आगि अनार की डारहि ।
 कुसुम केतकी मालति वासा । फूले भँवर फिरहि चहुँ पासा ।
 टेसू फूल तो कीन्ह अंजोरा । लागी आगि जरं चहुँ ओरा ॥”

यह वन और फूलों की माया है। जब उसके मादक प्रभाव से मुग्ध होकर पशु और पक्षी, कीट-पतंग, मुग्ध हो सकते हैं, तब सहजसंवेदनशील मनुष्य की क्या बात है।

वन और फूल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वन रंगमंच है तो फूल अभिनेता ; वन शरीर है तो फूल-भाव ; वन आकाश है तो फूल उसमें उगने मुरझाने वाले नक्षत्र ; वन तन है तो फूल आभरण ; वन उत्तरीय है तो फूल उसके बूटे, वन भित्ति है तो फूल चित्र। अतः वन और फूल समग्र शोभा में अभिन्न हैं। फिर भी :—

“गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।”

के अनुसार दोनों की अलग-अलग प्रेरणाएँ और प्रभाव हैं ; किन्तु काव्य को प्रेरणा देनेवाले दोनों एक साथ भी हैं, अलग-अलग भी। हिन्दी के शब्द-पारखी, कुशल कवि सोनापति ने दोनों से ही काव्य की प्रेरणा पाई है। देखिये :—

“लाल लाल टेसू फूल रहे हैं विसाल, संग ,
 स्याम रंग भेंटि मानों मसि में मिलाये हैं ।
 तहाँ मधुकाज आइ बंठे मधुकर-पुंज ,
 मलय पवन उपवन-वन धाये हैं ।
 सेनापति माधव महीना में पलास-वन ,
 देखि-देखि भाव कविता के मन आये हैं ।
 आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे मानों ,
 विरही बहान काम कबैला परचाये हैं ॥”

कवि के लिए प्रकृति जड़ नहीं; वह तो समस्त जड़ कही जानेवाली प्रकृति में भी आत्म-विस्तार देखती है। जैसे मानव के व्यापार हैं वैसे ही

प्रकृति के व्यापार, अतः फूल केवल अचेतन वस्तु नहीं, वरन् विभिन्न भावनाओं और चेष्टाओं के प्रतीक हैं। समस्त प्रकृति मनुष्य की दशा से प्रभावित होती है। उसके साथ सहानुभूति का भाव प्रदर्शित करती है। हँसी में हँसती और दुःख में आँसू बहाती है। देखिये जायसी कहते हैं:—

“राते बिब भोजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ।

राते फूल अगिनि भइ काया। गगन मेघ राते तेहि छाया ॥”

इस प्रकार बन और फूल विभिन्न रूपों, स्थितियों और व्यापारों के अनुसार विभिन्न भावों के प्रतीक हैं। वह कभी भय का प्रतीक है, तो कभी निराशा और करुणा का। गोस्वामी जी के मानस के कथनानुसार:—

“सिय बन बसहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती।

बन हित कोल किरात किसोरी। रची विरंचि विषय सुख भोरी ॥”

आदि पंक्तियों में बन की भयंकरता का, तथा महादेवी वर्मा की पंक्ति ‘कम्पित वानीरों के बन भी, रह-रह करुण विहाग सुनाते’ में बन निराशा और कारुण्य का प्रतीक है।

फूल भी काव्य में विभिन्न भावों के प्रतीक होकर व्यक्त हुए हैं। फूल हँसी के प्रतीक हैं, सुन्दरता और सुकुमारता के रूप हैं, आशा के आलम्बन हैं और मुख-नेत्र आदि सुन्दर अङ्गों के उपमान हैं, रमणी के सहज शृङ्गार हैं, देवार्चन के उपकरण हैं और विकास के द्योतक हैं। ‘हँसने में फूल और रीने में मोती’ का दर्शन कवि करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न सुकुमार भावों, क्रियाओं, गुणों और चेष्टाओं का भी संकेत फूलों के माध्यम से हुआ है। देखिए:—

“कुम्हला गई चाँदनी, जैसे निशिंगन्धा का फूल”

+

+

+

“तारे चूने लगे फूल ज्यों भरते शोफाली से”

+

+

+

“तुम सोने के रँग से उजली, सरसों के फूलों से हलकी”

(पलाशवन)

तीव्र भावों के संकेत, सघनता, उत्कर्ष और विकास स्पष्ट करने में फूलों की कलियों के खिलने, विकसित होने और समस्त वायुमण्डल को प्रभावित करने के व्यापार का माध्यम बनाकर कवि किस सफलता से हमें मन्त्रमुग्ध कर लेता है, यह नीचे की ‘पलाश’ पंक्तियों से स्पष्ट है। भाव की गति और उसका संक्रामक प्रभाव दर्शनीय है:—

“पतझर की सूखी शाखों में लग गई आग शोले बहके ।
चिनगी सी कलियाँ खिलीं, और हर फुनगी लाल फूल लहके ।
लग गई आग, बन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश ।
लो, चली फाग, हो गई हवा भी रंग भरी छूकर पलाश ॥”

अनेक लोकगीतों में फूल आन्तरिक प्रेमभाव के प्रकाशन के सुन्दर माध्यम बन कर आये हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं युवावस्था के विकास का बड़ा सुन्दर संकेत करते हैं। देखिये एक चैती की इन पंक्तियों में यह पूर्णतया स्पष्ट है :—

“नई भेजे पतिया, आइल चइत उतपतिया ।
बेला चमेली फूले बगिया में, जोबन फूलल मोरी अँगिया ।
नई भेजे पतिया ॥”

इसी प्रकार एक गीत में लाल आँखों के उपमान रूप फूल का दर्शन कीजिये :—

“जोगिया की लाल लाल आँखियाँ हैं, जैसे चम्पा के फूल ॥”

ऐसे अनेक गीत हैं जिनमें फूल विविध भावों के प्रतीक और माध्यम होकर आये हैं। काव्य फूल जैसी सुन्दर, सुकुमार, उल्लास, हर्ष का संकेत करनेवाली वस्तु से वंचित होकर कैसे पनप सकता है ? इसके असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। उद्दीपन और शृंगार के साधन के रूप में फूलों का मनोहारी वर्णन एक छन्द में देखिये :—

“फूल रहे बन बाग सबै लखि, फूलनि फूलि गयो मन मेरो ।
फूलन ही को बिछावनो कै, गहनो कियो फूलन ही को घनेरो ॥
लाल पलासन में चढ़ूं औरन, आस बिलास कियो घन घेरो ।
ऐसेहि फूल फैलाइ फैलाइ, परो ऋतुराज को मानहु डेरो ॥”

अतः फूलों का बड़ा मोहक और व्यापक प्रभाव है। इन्हीं फूलों के लुभावने और अन्तस् को आन्दोलित कर देनेवाले रूप के कारण ही मन्मथ के वारणों की संज्ञा प्राप्त हुई है। फूल के इस प्रभाव पर ही दूढ़ विश्वास करके एक वियोगिनी कहती है :—

“फूलन दे बन हेसु कबबन अंबन बोरन आवन दे री ।
री मधुमत्त मधूकनि पुंजन, कुंजन सोर मचावन दे री ।

वयों सहिहै सुकुमारि 'किशोर' अली कल कोकिल गावन वै री ।
 आवत ही बनिहै घर कंतिहि वीर वसंतिहि आवन वै री ॥”

उल्लास और हर्ष के भावों के अतिरिक्त फूलों पर केन्द्रित, वीरता, निराशा, करुणा, शोक और अचरजपूर्ण रहस्य-भावनाओं के भी प्रकाशन हुए हैं। ऐसे स्थलों में मनोभूमि सामान्य न होकर विशिष्ट संस्कारों और परिस्थितियों से निर्मित हुई है। वीरता के भाव के आलम्बन रूप देशप्रेम को जाग्रत करनेवाली माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह' की पंक्तियाँ :—

“भुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक ।
 मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जायें वीर अनेक ॥”

परम प्रसिद्ध हैं ही और चिरस्मरणीय रहेंगी। इसके अतिरिक्त फूल करुणा-पूर्ण शोक के भी आलम्बन रूप में आये हैं। रामनरेश त्रिपाठी के निम्नलिखित छन्द में इसी भाव का प्रकाशन देखिए :—

“हा ! वह फूल किसी दिन अपनी सुन्दरता से गर्वित,
 आया था जग में उमंग से किसी वासना से आकर्षित,
 पर देखा क्या ? क्षणभंगुर सुख, आशा और मृत्यु का संगर,
 मुरझ गया होकर हताश अति, सौरभ का निःश्वास छोड़कर ।”

इस प्रकार विविध भावों के प्रेरक फूल को लेकर काव्य की असंख्य पंक्तियाँ लिखी गई हैं और ऐसे उद्गार स्मरणीय और काव्य की शोभा हैं। कोमल से कोमल और गंभीर से गंभीर भाव, फूल का आश्रय लेकर व्यक्त हुए हैं। आश्चर्यपूर्ण रहस्य-भावना का भाव हरिऔध जी के इस छन्द में देखिये—

“सेमल को लाल लाल सुमन मिले हैं कहाँ
 पीले पीले फूल दिये किसने बबूलों को ?
 तुली तूलिकाएँ ले ले कैसे साजता है कौन,
 सुललित लतिका के कलित बुकूलों को ?
 “हरिऔध” किसके खिलाये कलिकाएँ खिलीं,
 बे बे बान मंजुल मरंद अनुकूलों को ।
 किससे रंगीली साड़ियाँ हैं तितली को मिली,
 कौन रंगरेज रंगता है इन फूलों को ?”

इस प्रकार फूल और वन अलग-अलग एक साथ शाश्वत् मानव-भावनाओं की सूक्ष्म, सहज और रहस्यमय अभिव्यक्ति में कवि को चिरकाल से प्रेरणा देते रहे हैं और अनन्त काल तक देते रहेंगे। पृथ्वी पर स्वर्ग को उतारनेवाले फूल हैं, मनुष्य को देवता बनानेवाले फूल हैं। प्रकृति के ये शृंगार हैं और शिशु की सुकुमारता इन्हीं में है। इसी से हमारा साहित्य और विशेष रूप से काव्य इनके वर्णनों से ओतप्रोत हैं।

कवि का सत्य

सत्य की खोज, सत्य का अन्वेषण, सत्य की परख और सत्य का ग्रहण, मनुष्य-जीवन का पुरुषार्थ है। आज हमारे बीच सत्य-व्यवहार के प्रति यथार्थ भावना एवं आवश्यक मनोयोग न होने के कारण व्यक्ति और समाज का आचरण इतना दूषित होता जा रहा है कि सदिच्छा एवं सद्भावना से प्रेरित राजकीय विधान एवं दंड-भय भी उसे रोकने में समर्थ नहीं हैं। मनुष्य स्वयं इतना सबल एवं सक्षम है कि व्यक्ति तथा समाज के रूप में उठना चाहे तो उठते देर नहीं लगती और गिरना चाहे तो गिरने-गिरते रसातल तक पहुँच सकता है। अतः ऊपरी भार-दबाव, डर-धमकाव उसे उस समय तक उठा नहीं सकते जब तक कि उसके भीतर स्वयं उठने की इच्छा न हो और इस इच्छा का उदय एवं विकास सत्य के प्रकाश के साथ ही होता है।

अतएव प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में, समाज सुधारक सत्य की परख में तथा कवि एवं साहित्यकार सत्य के ग्रहण, विकास एवं प्रसार में संलग्न है। सत्य की खोज और अन्वेषण व्यर्थ है, यदि परखने और उसे ग्रहण कर उपयोग में लानेवाले न हों। सत्य का यथार्थ उपयोग तभी हो सकता है जब उसके प्रति हमारी एक पवित्र भावना हो और हमारी नैतिकता का वह विकास कर सके, अन्यथा शुद्ध बुद्धि एवं विवेक के अभाव में उसको तोड़-मरोड़ कर, उसके रूप को विकृत कर अपना स्वार्थ-साधन करनेवाले, योग्य को अयोग्य और निरपराध को सापराध सिद्ध करनेवाले बुद्धिजीवी वकीलों की हमारे देश में कमी नहीं है। वैज्ञानिक का सत्य भी संसार का कल्याण तभी कर सकता है जब संसार के लोग उससे अपना कल्याण कराना चाहें और सत्यान्वेषण के प्रति मंगलमयी, पावन मान-वता की भावना उनके हृदय में विद्यमान हो, अन्यथा अणु बम और विविध विषैली गैसों का भय, आशंका और दुष्परिणाम हमारी आँखों के समाने ही हैं।

दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत् को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत् को, किंतु हमारे भाव एवं कल्पना जगत् को

आन्दोलित, विकसित, परिष्कृत एवं प्रभावित करनेवाला सत्य कवि का है। दार्शनिक का सत्य सर्वजनग्राह्य नहीं है और वैज्ञानिक का सत्य पदार्थगत, भौतिक एवं बाह्य है। एक में गहराई है किन्तु सुगमता एवं सरलता नहीं, दूसरे में सुख है किन्तु आनन्द, आभ्यन्तर-प्रवेश-क्षमता, सौन्दर्य तथा रमणीयता नहीं। अतः सामान्य शारीरिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं के पश्चात् जो विशेष प्रभाव डालनेवाला सत्य है, वह कवि का सत्य है, काव्यगत सत्य है।

साधारणतया हम यह समझते हैं और समझते आये हैं कि कवि का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं, पर विचार कर देखें तो कवि न केवल सत्य का आधार ही लेता है, वरन् सत्य की खोज, परख एवं उसका ग्रहण भी करता है। कवि खोजे हुए सत्य के नग्न ढाँचे को लेकर उस पर रंग एवं रूप भरता है और उसे सरस एवं सजीव बना देता है, यथार्थ के नीरस ठूँठ को वह कल्पनागत आदर्श से पल्लवित-गुष्पित, तथा हरा-भरा एवं लहलहा कर देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एवं इतिहास-वेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एवं आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। पर इससे भी अधिक महत्व का कार्य कवि के लिए है, सत्य को अपने मूल-चास्त्व में ग्रहण कर उसकी अपने सहज सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति करना। कवि की यथार्थ मद्धता इसी में छिपी रहती है।

दार्शनिक एवं वैज्ञानिक वास्तविक सत्य के तत्त्वमात्र को ग्रहण करते हैं, पर कवि उतने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, वह सत्य के भीतर जितना भी सौन्दर्य एवं आकर्षण है उस सबको अपनी कल्पना और अनुभूति की संवेदन-शीलता से ग्रहण कर, उसको एकांगी रूप न देकर पूर्ण एवं मनोहारी रूप देने का प्रयत्न करता है। फूलों पर पड़े हुए हिमकण, दार्शनिक की दृष्टि से क्षण-भंगुर हैं, वैज्ञानिक की दृष्टि से, 'ऑक्सीजन' और 'हाइड्रोजन' गैसों का एक विशेष अनुपात में सम्मिश्रण है, पर कवि की दृष्टि से वे इतने ही नहीं हैं। वे फूलों के मुखों को सजानेवाले लुभावने मोती भी हैं और गगन के नक्षत्र भी, वे सौन्दर्य के तरल बिंदु भी हैं और करुणा के आँसू भी, साथ ही और न जाने क्या-क्या ! चन्द्रमा, एक उपग्रह है, एक गगनचारी पिण्ड है, पर क्या इतने विवरण से उसके सम्पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन हो जाता है। यदि हो जाता तो कवियों की अब तक की, सुन्दरी रमणी के मुख, सुधाभांडार, हिमांशु, रजनीपति, सोम, शीतकर आदि की कल्पनाएँ हमें मान्य न होतीं। इन सब प्रकार की विधियों से वह सत्य के उस अपूर्ण रूप को पूर्ण करने का

प्रयत्न करता है, जो केवल बुद्धिग्राह्य नहीं बरन्, अनुभूति एवं कल्पना-द्वारा ग्राह्य होकर ही पूर्ण होता है। सत्य का विशेषतः वही पक्ष कवि-सत्य है, जो कल्पना एवं अनुभूति से ग्रह्य होता है पर बुद्धि-ग्राह्य सत्य उसका मार्ग-प्रदर्शक अवश्य होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का प्रयत्न, सत्य को अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ ग्रहण करना होता है। जब कवि काव्य को इस रूप में देखता है तभी वह यथार्थ काव्य हमें दे सकता है, कवि का स्वानुभूत सत्य, सौन्दर्य को छोड़ नहीं सकता; वह सौन्दर्य से भिन्न नहीं है। तभी तो अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि 'कीट्स' ने कहा है। कि "सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही जानना हमारे लिए सब कुछ है (Beauty is Truth, truth beauty, that is all.)। इसी सत्य का उद्घाटन करनेवाले कवि काव्य-विवेक से रहित होकर भी हमारे बीच पूर्ण प्रतिष्ठित है। गोस्वामी तुलसीदास का सम्मान इसी कारण है कि उन्होंने जो जीवन का सत्य है उसका स्पष्ट किया है। इस बात को उन्होंने अपनी प्रारम्भिक प्रतिज्ञा में ही 'रामचरितमानस' में इस प्रकार व्यक्त किया है—

“कवित विवेक एक नहि मोरे।

सत्य कहौ लिखि कागद कोरे ॥”

यहाँ तक कि अपने वंदनीय भगवान शंकर से भी वे यही याचना करते हैं कि:—

“सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर, जो हर गौरि पसाउ।

तो फुर होइ जो कहहुँ सब, भासा भनिति प्रभाउ ॥”

अतः जिन्होंने भी आन्तरिक-प्रेम से विह्वल होकर लिखा है, उन्होंने स्वानुभूत सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न किया है; यदि यह न होता, तो सत्य की अनुभूति करनेवाले अन्य अनेक रहस्यवादी सन्त कवि अनचाहे कवि न बन जाते। कबीर, जायसी आदि इसी प्रकार के कवि हैं। तो सत्य की झलक कवि का सम्बल है, जिसके सहारे अपने विषम पथ पर भी वह स्वानुभूति के उत्स से अमृत की मधुरिमा ग्रहण करता रहता है।

हाँ, यह बात माननी पड़ेगी कि सत्य का स्वरूप, युग के अनुकूल अपनी आभा बदलता रहता है। यहाँ पर एक यह बात भी ध्यान देने की है कि युग-युगान्तर में अन्य सत्य जितने शीघ्र तिरस्कृत एवं अनुपयोगी हो जाते हैं, उतने शीघ्र काव्यगत सत्य नहीं। अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को सँजोये रहने के

कारण उसका आकर्षण, उसकी आभा कभी नितान्त फीकी नहीं पड़ती ; दूसरे अधिक आकर्षक एवं रंगीन स्वरूप को सामने पाकर कुछ धीमी चाहे भले ही पड़ जाय । युग-युगान्तर में ग्रहण किये गये काव्यगत सत्य, विभिन्न मणियाँ हैं जिनके सूत्र बदलते रहते हैं । किसी युग में यदि उन्हें परोनेवाला सूत्र भक्ति का है, तो दूसरे युग में शृंगार एवं विलास का । एक युग में वह करुणा का है तो दूसरे युग में देशप्रेम का । एक युग में वहीं सूत्र समाज-सुधार का है, तो दूसरे युग में साम्यवाद का । इस प्रकार सूत्र पुराने अवश्य होते रहते हैं, पर मणियों की चमक-दमक थोड़े प्रयास करने पर वंसी ही बनी रहती है । यही दशा काव्यगत सत्य की भी है । वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्य-सिद्धान्त यदि आगामी युग में असत्य सिद्ध हो गये, तो फिर उनका कोई मूल्य नहीं ; आगे का युग उसे ग्रहण नहीं करेगा ; पर काव्यगत सत्य कभी भी नितान्त तिरस्कृत नहीं होते । सूर्य, पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, इस मान्यता का अब कोई मूल्य नहीं ; पर हंस का क्षीर-नीर विवेक, चन्द्रमा का अमृत, आकाश की दुग्धगंगा (Milky way), यश का श्वेत एवं अनुराग का लाल रंग, नरक आदि काव्यगत सत्य अब भी समादृत हैं ।

काव्य के लक्षणकारों ने प्रायः काव्य के बहिरंग पर विचार कर कवि को अपने इस सत्य-खोज के पथ से भ्रष्ट किया । ऐसे अनेक समय आये जब वह जीवन में सत्य के संदेश को भूलकर केवल वाग्वैदग्ध्य के ही फर में पड़ गया । इसका परिणाम यही हुआ कि कवि, कवि न रहा और उसकी कृति शाश्वत् काव्य न हो पायी ।

सत्य की खोज सहज नहीं है । उसके लिए अथक साधना करनी पड़ती है ; पर हमारा कवि और हमारा समाज दोनों ही उसके लिए तैयार नहीं हैं । कवि जब तक जीवनमृत की भाँति जीवन-समुद्र में गहरा गोता नहीं लगावेंगे, तब तक मोती और माणिक्य हाथ कंसे लग सकते हैं ? कवि ऐसा नहीं कर रहे, इसमें केवल उनका ही दोष नहीं । हमारे समाज और शासन दोनों पर इसका उत्तरदायित्व है ।

यदि हम कवि से यथार्थ काव्य की आशा करते हैं, तो हमें उसे साधना का अवसर एवं सुविधा देनी होगी । आज का कवि अपने पूर्ण रूप में कवि नहीं, यह सत्य है, पर यह भी सत्य है कि आज का समाज कवि के प्रति अनुदार है । हम यदि कवि से सत्य के सुन्दर रूप को पाना चाहते हैं, तो हमें उसको खोजने की, ग्रहण करने की सुविधा एवं स्वच्छंदता देनी चाहिए । उसमें यदि सचमुच कवित्व की प्रतिभा है, तो हमें उसका सम्मान करना

चाहिए। सम्मान से बेलें लहलहाती हैं, पौधे फलते फूलते हैं, पशु तक मुग्ध होते हैं, फिर मानव और कवि का क्या कहना है? हमारे लिए आवश्यकता है कि कवि और साहित्यकार का सम्मान करें; उसका पथ-प्रदर्शन भी करें। उसकी एकांतप्रियता और अमृद्धता पर जब से हम कवि का तिरस्कार करने लगे, तभी से सभी कवि बन गये हैं और कोई कवि नहीं रह गया। अपने अतीव भौतिक दृष्टिकोण से इस सबल युग में हमने काव्यगत सत्य का बलिदान कर दिया है। व्यापारिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण-मात्र प्रधानता धारण कर रहा है, और जिसकी वेदी पर हम अपने आभ्यन्तर विकास एवं संस्कृति की बलि दे रहे हैं।

कवि का सत्य, समाज का बल है। वह हमारी प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है, उनको आने सहज अमृत से सींच कर विकसित करता है, और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन की कला बताता है। आज तक विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का प्रयत्न यही जानने का रहा है कि जीवन को सफल एवं आनन्द-पूर्ण कैसे बिताया जा सकता है? विज्ञान आविष्कारों-द्वारा मानव को श्रम से मुक्त कर शारीरिक एवं भौतिक सुविधा देने में प्रयत्नशील है, राजनीति और दर्शन समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाले और आध्यात्मिक सिद्धांतों की खोज और प्रसार में संलग्न हैं, पर काम बिना कवि की सहायता के नहीं चल सकता। समाज, केवल भौतिक सुविधा पाकर ही आनंदित नहीं हो सकता; केवल सिद्धांत प्राप्त कर उस पर चलने नहीं लगता, जब तक कि इनके मूल में और हमारे जीवन में व्याप्त जो सत्य एवं सौन्दर्य है उनका सम्मिलन नहीं होता। इन सत्य सिद्धांतों के प्रति अनुराग और पावन भावना बनाना कवि का काम है। अतः आज की परिस्थिति में हमें प्रमुख कठिनाई हो रही है वह इसी कारण से कि हमें 'काव्य का सत्य' अगम्य है। यदि यह सुगम हो जाय, तो हमारे मन, हृदय और बुद्धि का समन्वय हो सकता है और फिर पारस्परिक प्रेम एवं सम्मान के भाव पनप कर हमें विकसित करेंगे और ईर्ष्या-द्वेष, आलोचना या दोष-दर्शन के भाव शांत होंगे। ऐसा होने पर ही एक साथ हमारे बाहुओं में बल, मन में ओज, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनन्द-उल्लास प्रवाहित हो सकेगा। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है, हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से ही हम एक दूसरे से मिले हुए हैं।

साहित्य में आदर्श और यथार्थ

मानव-संसार अपने शैशव में प्रकृति की वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। कारण था, जगत् के वास्तविक सत्य की अनभिज्ञता से उत्पन्न प्रकृति का रहस्यपूर्ण प्रभाव। मानव की जाग्रत कल्पना अपने जीवन-संबंधी अनुभवों के उपरांत किसी कोमल और सौन्दर्यमयी सत्ता को एक स्वप्निल-दृष्टि से देखती थी। उसकी मृदुल और भयभीत भावनाएँ जहाँ कहीं सौन्दर्य और शक्ति देखतीं थीं, वहाँ वह किसी स्वर्गिक मुसकान अथवा दैवी-प्रकोप का अनुभव करती थीं। खिले हुए फूल, कलकलनिनादिनी सरिता, सुरभित समीर उल्लासित “कुहू-कुहू” और “पी कहीं” रंग-विरंगे पक्षी जहाँ हृदय में आनन्दात्मक उल्लास भरते थे और एक अविश्लेष्य रहस्य का अनुभव होता था, वहाँ ही कड़कती विद्युत्, गरजते मेघ, आँधी, ऊँमिलसागर और सिंहनाद एक देखी और अदेखी शक्ति के समन्वय से भय का संचार करते थे। सत्यतथ्य की आच्छन्नता में मनुष्य की कल्पना सदैव सचत और सचेष्ट रहती है और उन प्रारम्भिक दिनों में सत्यता की खोज का प्रयत्न मानव अपनी काल्पनिक शक्तियों के सहारे कर रहा था। यही प्रत्येक भाषा के प्रारम्भिक साहित्य के कुछ रहस्यपूर्ण और आदर्शवादी होने का कारण है।

श्रद्धा और रहस्य की भावनाओं का मूल धीरे-धीरे तथ्य की खोज के झकोरों से हिलने लगा। प्रारम्भ में प्रतिभा और शक्ति के प्रति जो एक अलौकिकता से आलम्बित श्रद्धा का प्रकाशन किया जाता था, वह धीरे-धीरे कम हुआ। राजा की दैविक अधिकृति और शक्ति पर लोगों का विश्वास हटा और आदर्श और रहस्य की भावना वर्तमान व्यक्तित्व के प्रति कम होकर अतीत व्यक्तित्व की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हुई, जिसका सहारा लेकर आज तक आदर्शात्मक साहित्य का सृजन होता जा रहा है। आदर्शात्मक साहित्य-रचना का कारण विश्व के अविचलित नियमों की खोज के साथ-साथ भी उनकी संचालक शक्ति का आभास है और वर्तमान समय में तथ्य के

अनुभव और दिग्दर्शन के साथ-साथ भी विशालता की अनुभूति के आधार पर पूर्णता की ओर प्रगति देने का विचार आदर्श साहित्य के सृजन की मूल में है। अतएव आदर्शवाद का अन्त कभी नहीं हो सकता। यथार्थवाद के अन्तर्गत भी एक आदर्शवाद ही है। हाँ, यह उसका केवल परिवर्तित स्वरूप है।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर ही रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनों दृष्टियों में स्वभावतः तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जाता है। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी वह है, जो गुण-अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर ही मुग्ध हो जाती है और अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार होता है, उसका हृदय अनुराग से ओत-प्रोत है, फिर जो हृदय अनुराग से लहरित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति त्रिराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी, अपने अनुराग के आधारभूत विषय की प्रशंसा करने में अधिक दिखला सकता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थ मध्य पथ को ग्रहण करता है, जहाँ से दोनों छोरें सुगमता से देखी जाती हैं। इस प्रकार हम प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि यथार्थवादी लेखक, कवि कम होता है, आलोचक अधिक होता है। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किन्तु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्मविस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती है, वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवादी साहित्य-रचयिताओं में साधना की विशिष्टता और यथार्थवादी लेखकों में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

विषय की दृष्टि से भी आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों ही यथार्थ का चित्रण करते हैं। जिसे हम यथार्थवाद कहते हैं, वह जीवन की साधारणता का चित्रण हमारे सम्मुख उपस्थित करता है और जिसे हम आदर्शवादी साहित्य

कहते हैं, वह जीवन के असाधारण व्यक्तित्व की सृष्टि करता है, किन्तु है वह भी यथार्थ । वह चित्रण भी जीवन का एक अंग होता है । हाँ, उसमें चुनाव की आवश्यकता विशेष रूप से पड़ती है ।

आदर्शवादी साहित्य व्यक्तिप्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है, जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्वसाधारण की दृष्टि स्वभावतः खिंच जाती है । उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानवसमाज कुछ विशेष सुखमय एवं सगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है । यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है । ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं, उनमें सत्यता है किन्तु वे सर्वत्र सदैव नहीं मिलतीं, इसी कारण से मानव को उनकी स्मृति का लोभ रहता है, और इस प्रकार के ग्रंथों व साहित्य का आजकल प्रतिक्रिया रूप में चाहे कितना विरोध हो, समाज में सदा आदर होता रहेगा ।

वर्तमान प्रगतिवाद भी आदर्शवाद के ही विशेष निकट है । दोनों में अन्तर यह है कि आदर्शवाद विशेष व्यक्तित्व को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है और प्रगतिवाद हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है, समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान लं जाता है और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य के जीवन में नहीं देखते—उपस्थित करता है । प्रगतिवाद का ओज, विलाप, करुणा, पश्चात्ताप आदि जहाँ सामाजिक महत्त्व रखते हैं वहाँ आदर्शवाद का महत्त्व व्यक्ति विशिष्ट के दृढ़ चरित्र पर विश्वास रखने में है, किन्तु इस अविश्वास के युग में, श्रद्धा व रीझने के गुण के स्वाभाविक अभाव में, सामूहिक समस्याओं को सम्मुख उपस्थित कर, एक स्थायी भावना भर देना—यदि प्रगतिशील साहित्य द्वारा साध्य हो सके तो हमें इस विषय पर इसके पश्चात् और कुछ विचारने का अवकाश मिल जायगा ।

प्रगतिवाद में यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर आदर्शवाद का सन्देश रहता है । यथार्थवाद एक वातावरण के रूप में होता है और आदर्शवाद उसमें पनप सकता है । प्रगतिवाद सामूहिक होता है, समष्टिगत होता है, व्यक्तिगत नहीं । ऐसे चित्रण में सजीवता का स्थान विशेष प्रधान है, व्यक्तित्व का

उतना नहीं। हमने प्राचीन आदर्श चित्रणों में देखा है कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रभाव में दूसरों का व्यक्तित्व दबा हुआ-सा रहता है। रामायण के कथानक में भरत, उमिला, कौशल्या, वसिष्ठ, हनुमान, सभी एक-एक काव्य क पात्र होने के गुणों से सम्पन्न हैं, फिर भी राम के विशाल व्यक्तित्व के सम्मुख सभी दबे हुए हैं। एक सार्वकालिक व समर्थ व्यक्तित्व अन्य को दाब देता है, किन्तु इस प्रकार के चित्रण पर अयथार्थता का लाञ्छन नहीं लग सकता। जीवन में इस प्रकार के चरित्र मिलते हैं। आधुनिक युग में ही देखिये, गांधी, मालवीय, जवाहर, रवीन्द्र आदिक हैं, जो कि अन्य समयों में इनमें से प्रत्येक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होने की सामर्थ्य रखता है, किन्तु एक के विशाल व्यक्तित्व के सामने और सब दबे हैं। अतः रामचरितमानस का चित्रण भी जीवन को देखते हुए सच्चा ही है। साहित्य का प्रभाव सदैव स्वाभाविकता व यथार्थता के कारण ही होता है और जो रचनाएँ जीवन से अलग केवल कल्पना के आधार पर लिखी गई हैं, उनका सामूहिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं, वे उसे बल नहीं दे सकतीं। जिससे जीवन को बल मिले, वही साहित्य, वही रचनाएँ हमारे काम की हैं।

यथार्थवाद तत्त्वतः आदर्शवाद के विपक्ष में उतना नहीं, जितना कि छायावाद के। छायावाद का अधिकांश, जीवन की भावनाओं को व्यक्तिगत विशेषता के साथ ही सम्मुख रखता है और फिर उसमें जीवन के चित्रों की काल्पनिक छाया है, स्थूल आकार नहीं; कल्पना को उससे सन्तोष होता है, पर हृदय भूखा ही रह जाता है। हम उसमें न खुलकर हँस सकते हैं, न रो सकते हैं, न क्रोध कर सकते हैं और न खेल ही सकते हैं, उसमें काल्पनिक विलाप है, जिस तक प्रत्येक की पहुँच नहीं, सर्वसाधारण का वह गान नहीं बन सकता। अतः हमें कुछ अपने स्थूल, जीवन में देखे-सुने चित्रों को चाहिए, जिनके साथ हम हँसकर, रोकर, अपने भावों को प्रकाशित कर अपने को हल्का कर सकें। रोगी के गुप्त रोग की भाँति छायावादी करुण भावनाएँ हृदय के किसी कोने में घुस जाती हैं, किन्तु न वे आन्दोलन ही उठाती हैं और न विह्वल ही करती हैं; उनमें एकाङ्कीपन रहता है। मनुष्य सदा देवता नहीं बना रह सकता, उसे संसार को अपना समझकर ही जीवन में आनन्द मिल सकता है। अतः हमारे साहित्य में सजीवता का होना आवश्यक है, जिसमें कि जीवन के छोटे-बड़े आनन्द, उल्लास, हँसी, परिहास, व्यंग्य, करुणा, विलाप आदि का जीता-जागता चित्र हो और हम कह सकें कि हाँ, हमने ऐसा होते देखा है।

स्मृति के रूप में हमारे मस्तिष्क में जितने भी अनुभव सोते हैं, वे सभी साहित्य के द्वारा उकसाये जाकर आनन्द व बल देने में सहायक हो सकते हैं। अतः कवि और कल-कार की इन्हीं सोते हुए अनुभव के स्तरों को खोज निकालने में ही हृदयता और प्रतिभा है। अतः इस प्रयास में जहाँ हम कहते हैं कि हम आदर्श से यथार्थ की ओर आ रहे हैं, वहाँ हम तत्त्वतः छाया से हटकर सजीवता की ओर बढ़ रहे हैं। जहाँ, इस सजीवता के पास आकर हमारी सभी ऊँची-नीची भावनाएँ एक प्रबल हिलोर में झूम उठें, हमारा हृदय अनुभूत भावनाओं से भरा और स्मृतियों से विह्वल हो, हम अपने मुख से कवि के गीतों को गा उठें और समझें कि जीवन का यह नया अनुभव है, वहीं कविता का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

इसी स्तर पर आकर साहित्य के यथार्थ, आदर्श, छाया, प्रगति आदि सजीवता से सम्बन्धित हो सभी वाद एक हो जाते हैं; यहीं से साहित्य की महत्ता जीवन के लिए प्रारम्भ हो जाती है और साहित्य केवल अवकाश का मनोरंजन न रह कर जीवन का पोषक हो जाता है जिसके बिना समाज दुर्बल और क्षीण हो जाता है, और उसमें ताज़ा रक्त न रहने से सुख-सामग्री भी विषाद में परिणत हो जाती है।

अवधी की सामर्थ्य और समृद्धि †

अवधी, हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों में प्रमुख स्थान रखती है। इसका उद्गम अर्द्धमागधी प्राकृत और उसके अपभ्रंश से है और अवधी शब्द भी अर्द्धमागधी से निकला हुआ शब्द है। आजकल इसका संबंध अवध प्रदेश से है। सामान्यतया समस्त अवध प्रदेश में बोली जानेवाली भाषा अवधी कही जाती है। यदि हम पूर्वी और पश्चिमी, हिन्दी भाषा की दो शाखाओं के अंतर्गत आनेवाली, प्रादेशिक बोलियों—अर्थात् अवधी, भोजपुरी बघेलखंडी (पूर्वी बोली) और खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली को पश्चिमी हिन्दी के अंतर्गत लें, तो हम यह कह सकते हैं कि अवधी का क्षेत्र सब से व्यापक है। अवध प्रान्त के अंतर्गत, हरदोई को छोड़कर लगभग समस्त जनपदों, और विशेष रूप से लखनऊ, उन्नाव, सीतापुर, वाराणसी, रायबरेली, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, फैजाबाद, लखीमपुर-खीरी आदि में बोली जाने वाली भाषा अवधी ही है। इसके अतिरिक्त गंगा के दक्षिणीय जनपदों के कुछ भाग जैसे इलाहाबाद, मिर्जापुर, जौनपुर, फतेहपुर आदि की कुछ तहसीलों में भी अवधी ही बोली जाती है। इतना ही नहीं, बिहार के रहनेवाले कुछ मुसलमान और कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में जाकर बसनेवाले इस प्रदेश के लोग भी अवधी ही बोलते हैं। जिस प्रकार बंगालियों के संबंध में सत्य है कि दो बंगाली जहाँ मिलेंगे, वे अन्य किसी भाषा में बात न करके बंगाली में ही बात करेंगे, उसी प्रकार मातृभाषा के रूप में अवधी को ग्रहण करनेवाले लोग भी परस्पर वार्तालाप अवधी में ही करने के लिए प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यही है कि एक बंगाली को जिस प्रकार अपनी बोली का गर्व है, उसी प्रकार एक अवधी-भाषी को भी अपनी भाषा का। और इसमें संदेह नहीं कि अवधी भाषा की भाव-

† हिन्दी सभा, सीतापुर के सौजन्य से, जहाँ यह निबंध सन् ५० की अवधी परिषद् में पढ़ा गया था।

प्रकाशन की सामर्थ्य बड़ी तगड़ी है । ब्रजभाषा, अधिक मधुर होने के कारण दैनिक व्यवहार के लिए, उतनी सक्षम और उपयुक्त नहीं जितनी अवधी । उसकी तो कविता, कला, और नारी-भावना की अभिव्यक्ति में ही विशेष शोभा है । और यह उसकी कोमल मधुराई की अपनी विशेषता है, होनता नहीं ।

यहाँ पर मेरा तात्पर्य यह सिद्ध करना नहीं कि अवधी, हिन्दी की समस्त भाषाओं या बोलियों में बढ़कर है या इसमें जो कुछ गुण या विशेषताएँ हैं, उनके समकक्ष अन्य बोलियों में गुण या विशेषताएँ नहीं । वरन् मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि अवधी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व, जिन बातों, अंगों और पक्षों को लेकर बना है वह अपनी विशेषताएँ रखते हैं और अन्य बोलियों का वह पक्ष तुलनात्मक दृष्टि से अवधी से घटकर है । किन्तु इसके साथ ही साथ मैं यह मानने को तैयार हूँ कि अन्य बोलियों के ऐसे पक्ष भी हो सकते हैं और हैं, जिनमें अवधी क्षीण है और वे उस विशिष्ट बोली के व्यक्तित्व को पुष्ट करनेवाली बातें हैं । अपनी इस बातको और स्पष्ट करने के लिए मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा, जो अवधी के क्षेत्र के बाहर घटी और जिससे अवधी के संबंध में उस क्षेत्र के व्यक्ति की धारणा स्पष्ट हो जाती है । जिस समय मैं साहित्यिक खोज के संबंध में टीकमगढ़, में स्थित ओरछा राज-पुस्तकालय में हस्तलिखित ग्रंथों की छानबीन कर रहा था, उस समय ओरछा राज के एक सम्मान्य एवं उच्च पदाधिकारी मेरे मित्र ने मुझसे पूछा—“आपकी राय में हिन्दी के भीतर कौन सी भाषा सब से अच्छी है ?” मैंने कहा—“किस विचार से ?” उन्होंने पूछा—“प्रत्येक दृष्टि से कौन सब से बढ़कर है ; मैंने उत्तर दिया—मैं इस संबंध में आपके निष्कर्ष जानना चाहता हूँ ?” वैसे तो अपनी अपनी भाषा को सभी अच्छा समझते ही हैं ; और मैं भी इस दुर्बलता से मुक्त नहीं हूँ ।” इस पर उन्होंने कहा—“मेरी राय में तो ब्रजभाषा जनानी भाषा है और अवधी अक्खड़ और गँवारू, बताइये आप का क्या मत है ?”

मैंने उत्तर दिया—“मैं आपके विशेषणों में गुणों का दुराव और दोषों का अत्यधिक बढ़ाव देख रहा हूँ । आप जिसे अक्खड़ता कहते हैं मैं उसे उसकी समर्थता मानता हूँ ; अस्तु, ऐसी दशा में आप संभवतः न तो गँवारू होना चाहेंगे न जनानापन पसन्द करेंगे, तो फिर कौन भाषा उपयुक्त हुई ?” इस पर उन्होंने अपना निष्कर्ष बताया कि हमारी बुन्देलखंडी भाषा में दोनों का समन्वय है । खैर वाद-विवाद काफी दूर तक बढ़ा किन्तु उसकी यहाँ आवश्यकता नहीं । मुझे अभी तक किसी अवधी-भाषी-द्वारा ब्रजभाषा के संबंध में और ज-

भाषी-द्वारा अवधी के संबन्ध में इस प्रकार की बातें सुनने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु मुझे यही लगा कि उन बुन्देलखण्डी महाशय ने 'अवधी' की व्याज-स्तुति की। और मैंने यही निष्कर्ष निकाला कि अवधी में ब्रज की तुलना में माधुर्य और लोच की कमी है किन्तु यह ओज, पुरुषार्थ और सामर्थ्यपूर्ण भाषा है। भाव को सीधे और प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकाशित करना अवधी की अपनी विशेषता है।

ब्रज भाषा के जनानेपन के संबन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि भाव और व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में ब्रजभाषा कोमल और मधुर भावनाओं की ही अभिव्यंजना कर सकती है, सभी भावनाओं की नहीं और इस दृष्टि से सीमित है। तुलसी को भी व्यापक भावनाओं के प्रकाशन में अवधी का ही प्रयोग करना पड़ा। हाँ यह अवश्य है कि मधुर और कोमल अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा सर्वोपरि है। यद्यपि मैं अपने बुन्देली मित्र के द्वारा प्रयुक्त विशेषण से सहमत नहीं हूँ, फिर भी अभी हाल में ही एक प्रसंग में मुझे उनके कथन का बड़े ही प्रभावपूर्ण रूप में स्मरण हुआ। प्रान्तीय रक्षकदल को परेड हो रही थी। उनमें से एक दल 'धौलपुर' भरतपुर के समीपवर्ती ब्रज-प्रदेश का था। उसके बन्दूकों के निरीक्षण-संबन्धी निर्देश या काशन के बड़े मनोरंजक शब्द थे। निर्देशक के शब्द थे—“तुपकिया दिखावने है—नेक तुपकिया दिखाय तो दीजो—” इन शब्दों को सुनकर अपने मित्र की आलोचना के प्रकाश में मुझे बड़ी हँसी आई।

अवधी के भीतर ब्रज का माधुर्य नहीं, पर व्यावहारिक भावों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य इसमें अपूर्व है। माधुर्य में भी अवधी, हीन नहीं है, ब्रजभाषा के समकक्ष चाहे भले ही न हो। अवधी की कोमलता और मधुरता उसके विशिष्ट छन्दों और जनगीतों में प्रकट हुई है। अवधी का विशिष्ट और अपना सबसे अनोखा छन्द बरवै है जिसमें भाव, संस्कृति और अनुभूति तथा गति अवधी के लघुतापरक शब्दों से बड़ी सुन्दरता से परिचालित होती है। बरवै छन्द का भाव हृदय के भीतर धँसता चला जाता है। सौन्दर्य और भाव की सूक्ष्माभिव्यक्ति के लिए अवधी का बरवै छन्द अद्वितीय है। इसका प्रयोग जनगीतों में भी होता है। होली के अवसर पर लोग परिक्रमा करते हुए बरवै गाते हैं। हिन्दी साहित्य के दो शिरोमणि कवि तुलसी और रहीम ने बरवै छन्द की रमणीय छटा दिखलाई है। दो एक बरवै देखिये—

“चम्पक हरवा अँग मिलि, अधिक सोहाय ।

जानि परे सिय हियरे, जब कुँभिलाय ॥

अब जीवन कै है कपि, आस न कोय ।
 कनगुरिया कै मुँदरी, कँगना होय ॥
 डहकु न है उजियरिया, निसि नहि घाम ।
 जगत जरत अस लागै, मोहि बिनु राम ॥”

ये तुलसी के बरवें थे । रहीम का एक बरवें देखिये:—

“भोरहि होत कोइलिया, बढ़वति ताप ।
 घरी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप ॥”

आधुनिक युग में भी इस छन्द की साधना के प्रयत्न हो रहे हैं । उनमें से दो-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा । देखिये:—

“उमड़े लाल बदरवा, तकि तकि सांभ ।
 पंछी लेत बसेरवा, कुंजन मांभ ॥
 जरि बरि जाय दियरवा, नित बतरात ।
 सजनी भूठ सगुनबाँ, मोहि न सोहात ॥”

प्रकृतिचित्रण, भाव का व्यंग्य-संकेत और अनुभूति की तीव्रता ऊपर के छन्दों में जैसी है वह अनुभव करते ही बनती है । गदराये आम की भाँति इनके भीतर की माधुरी भाँकती है और रस छलक रहा है ।

जनगीतों में अवधी बहुत समृद्ध है । जनगीतों की विविधता, व्यापकता और उपयुक्तता भी अवधी में है और भाषा की सजीवता एवं भाव की गंभीरता भी । अवधी में गाये जानेवाले समस्त गीतों और वर्गों का विवरण देना हमारा उद्देश्य नहीं, केवल कुछ महत्वपूर्ण गीतों की समृद्धि और भाव-पूर्णता ही स्पष्ट करने का प्रयास यहाँ पर किया जायगा; किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि समस्त ऋतुओं के प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठभूमि में ऋतु और अवसर के अनुकूल भावों की अवधी में प्रबल अभिव्यक्ति हुई है । जनगीतों की विभिन्न कोटियाँ, ऋतु, उत्सव, त्यौहार, संस्कार आदि की विशेष भावधारा के आधार पर की गई हैं । इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन और अनुभूतियों को भी अपनाकर चलनेवाले एक से एक सुन्दर गीत हैं । ये अनुभूतियाँ अपने नग्न, स्वाभाविक और सजीव रूप में हमारे सामने उपस्थित होकर अन्तरतम तक आन्दोलित कर देती हैं । इस कथन को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना आवश्यक होगा ।

एक ‘सावन’ है; सावन में गाया जानेवाला गीत । अवसर बेटी की विदा का है । बेटी अपने मायके के लोगों में कौन कितना चाहता है, यह व्यक्त

करती है, फिर भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य, संकेत और भाव-गांभीर्य के साथ गति का योग दर्शनीय है। गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

“सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुंदरी रेंगायो अनमोल ।

माया ने दीन्हों नौ मन सोनवाँ कि दबुली ने लहर पटोर ॥

भैया ने दीन्हों चढ़न को घोड़वा, भोजी मोतिन को हार ।

माया के रोये ते नदिया बहत हैं, दबुली के रोये सागर पार ॥

भैया के रोये ते पटुका भिजत हैं, भोजी के दुइ-दुइ आंस ।

सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुंदरी रेंगायो अनमोल ॥”

लोकगीतों में यों तो एक से एक सुंदर गीत हैं, पर अवधी के ‘सोहर’ छन्द का भाव और व्यंग्य कुछ अनूठा ही है। जब कभी लोकगीतों की चर्चा चलती है तो एक ‘सोहर’ छन्द सदा ही मेरी स्मृति में जग जाता है जिसका सा भाव मैंने आज तक किसी छन्द में नहीं देखा। वह कहानी भी है, काव्य भी है। छोटा होते हुए भी पूर्ण विस्तृत है। मरल होते हुए भी तीखे सामाजिक व्यंग्य से भरा हुआ है और जो समाप्त होकर भी न जाने कितने समय तक हृदय को भ्रंशित करता रहता है। गीत इस प्रकार है:—

“छ'बक पेड़ छिउलिया, तौ पतवन गहवर ।

(अरे रामा) तेहतर ठाढ़ी हिरनियाँ, तौ मन-अति अनमन ।

चरतें चरत हिरनबाँ तौ हिरनी ते पूछइ ।

की तोर चरहा भुरान कि पानी बिनु मुरझिउ ।

नाहीं मोर चग्हा भुरान न पानी बिनु मुरझिउँ ॥

आज राजा जी के छट्ठी तुःहःह मारि डरिहें ।

मचियै बैठि कौसल्या रानी हिरनी अरज करइ ।

रानी मसवा तौ सिभइ रसोइयाँ, खलरिया हम देतिउ ।

पेड़बा ने टगतिउँ खलरिया तौ फेरि फेरि देखितिउँ ।

रामी देखि देखि मन रुमुझत जानित रिना जीतइ ।

जाउ हिरनी घर अपने खलरिया नाहीं देबइ ।

हिरनी खँसरी क खँसरी मढ़इबे, राम मोर खेलिहें ।

...

...

...

जब जब बाजें खँसरिया, सबव सुनि अनकइ ।

हिरनी ठाढ़ि टकलवा के नीचे हिरन क बिसूरइ ॥’

गीत का भाव स्पष्ट है, किन्तु व्यंग्य कितना गहरा है। हमारे समाज में शासक और अधिकारी लोग, विवश, दीन-हीन, भोले प्राणियों पर अपने

स्वार्थवश कितना अत्याचार करते हैं। अपने सुख के आगे, अपनी क्रीड़ा और खेल के सम्मुख, दूसरों के सुख की हत्या और प्राणों का नाश करना, उनके लिए साधारण बात है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके यह गीत लिखा गया है। इसके रचयिता के भीतर 'मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीसमाः' के रचयिता आदि कवि से कम भावोद्रेक नहीं। पर आज उसे कौन जानता है ? इन जनगीतों के वाल्मीकि के नाम तक हम नहीं जानते। इस काव्य में वाल्मीकि-द्वारा प्रतिष्ठित 'राम' की आदर्शमाता की भी आलोचना है और इस प्रकार राजतंत्र के विरोध में एक दर्दभरी, क्षीण किन्तु शाश्वत् आवाज है जो युग-युग तक संदेशा देती रहने का दावा कर सकती है। इस प्रकार इन गीतों में न जाने कितने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, सूर और तुलसी के व्यक्तित्व छिपे पड़े हैं जो अपनी अमर वाणी देकर सदा के लिए लुप्त हो गये।

अवधी के एक गीत में चित्रित स्त्री का सौन्दर्य देखिये :—

“बै घना पान ऐसी पतरी, कुसुम ऐसी सुन्दरि हो।

रामा मुँदरी बरन करिहइयाँ, चन्दा ऐसी चमकई हो ॥”

ये गीत न जाने किस युग में बने। आज हमारी प्राचीन संपत्ति ही इन गीतों की इतनी काफ़ी है कि नवीन गीतों की रचना की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह कवित्वशक्ति अब नहीं रह गई। इसका कारण बदली हुई परिस्थितियाँ ही कही जा सकती हैं। किन्तु हमारे जनकवि इन परिस्थितियों के प्रभाव के भी संवेदनशील हैं इस आधुनिक कवित्वहीनता और प्रेमभाव-विहीन नीरस जीवन का कारण बता हुआ हमारा लोककवि कहता है :—

“भुलिया के कारन बिरहा बिसरिगा, भूलि गई कजरी कबीर।

देखि कै गोरी की मोहनी सुरतिया, उठै ना करेजवा माँ पीर ॥”

इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि हमारी आर्थिक समस्याओं ने हमारे हृदय को इतना नीरस एवं कठोर और मन को इतना कल्पनाहीन और निरुत्साही बना दिया है कि हम भाव-क्षेत्र के भीतर प्रवेश करने का अवसर तक नहीं पाते।

अवधी के जनगीतों की समृद्धि स्पष्ट हो नहीं सकती यदि, बिरहा, भूमर, कजरी और चैती का उल्लेख न किया जाय। इनमें से प्रथम तीन से तो हम भली भाँति परिचित हैं, किन्तु चैती के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि यह चैत अर्थात् ठेठ वसन्त का गीत है। फाग, भूमर आदि तो फागुन में गाये जाते हैं, जब वसन्त की शैशव अथवा किशोरावस्था होती है, किन्तु

चैती वसन्त की प्रौढ़ावस्था का गीत है अतः इनमें विशेष मादकता-भरी रहती है, जो ऋतु के प्रभाव को प्रकट करती है। चैती बुदेलखंडी में भी है, किन्तु उतनी महत्व की नहीं जितनी अवधी में। इन्हें, चैतावर, चैता, घाँटो आदि भी भोजपुरी और पूर्वी बोलियों में कहते हैं। अविकांश चैतियों में प्रेम और विरह के ही चित्रण हैं। एक चैती के शब्द उदाहरणार्थ दे देना अनुपयुक्त न होगा। मधुऋतु के मादक वातावरण में इनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही है :—

“नइ भेजे पतिया ।

आयेउ चइत उतपतिया—नइ भेजे पतिया ।

बिरही कोइलिया सबद सुनावे ।

कल न परत अब रतिया—नइ भेजे पतिया ॥

बेला चमेली फूले बगिया में ।

जोबन फून्यो मोरी अंगिया—नइ भेजे पतिया ॥

आयेउ चइत उतपतिया—नइ भेजे पतिया ।

इस प्रकार संक्षेप में अवधी के लोक गीतों की समृद्धि का संकेत किया गया है। अवधी के भीतर वास्तव में तीन उपप्रदेशों की बोलियाँ हैं, जो मिल कर अवधी का संघटन करती हैं पूर्वी अवध की पूर्वी, पश्चिमी अवध की पछाँही अवधी जो खीरी लखीमपुर, सीतापुर, बाराबंकी, लखनऊ आदि की बोली है और बैसवाड़ा (उन्नाव-रायबरेली) की बैसवाड़ी। तीनों के ही लोकगीत मिल कर अवधी का भंडार भरते हैं।*

लोकगीतों के अतिरिक्त लोकवार्ता, लोकोक्ति, आख्यान, नीति, उपदेश और प्रबन्ध-काव्य में भी अवधी खूब समृद्ध है। मुस्लिम कवियों कुतबन,

*आज हमें हिन्दी की बोलियों में प्रमुख व्यक्तित्व रखनेवाली खड़ी बोली ब्रज और अवधी ही जान पड़ती है। खड़ी बोली पश्चिमी हिन्दी के भीतर होती हुई भी ब्रज से अलग है। जब कि अवधी के भीतर की बोलियों का अवधी से नितान्त भिन्न व्यक्तित्व अभी स्पष्ट नहीं हुआ। इस प्रकार अवधी का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। (भोजपुरी विशेषज्ञ डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार) खड़ी बोली बोलनेवालों की संख्या ५३ लाख, ब्रजभाषा बोलनेवालों की ७६ लाख और अवधी बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है। अतः अवधी व्यापकता की स्वतः सिद्ध है।

मंभन, जायसी, आदि के प्रेमाख्यान हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, इसमें किसी को संदेह नहीं। साथ ही साथ उनके भीतर आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम का बड़ा ही रोचक और रहस्यपूर्ण सम्मिश्रण भी है। इस प्रकार के प्रेमाख्यान सभी के सभी अवस्था में ही है। इनके अतिरिक्त निर्गुण संप्रदाय के भीतर सतनामियों, गिबनारायणी आदि संप्रदायों के कवियों जगजीवन- मलूकदास, पलटू आदि की ज्ञान भरी वाणियों में भी अवधी भाषा ही मुखर हुई है।

सबसे विलक्षण और अद्वितीय देन अवधी के प्रबन्ध काव्यों की हैं। हिन्दी साहित्य को सर्वश्रेष्ठ दो महाकाव्यों की भेंट करनेवाली अवधी ही है। रामचरितमानस और पद्मावत के अतिरिक्त अन्य प्रबन्ध भी यह ही सिद्ध करते हैं कि हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा इसमें प्रबन्ध-शक्ति अधिक है। आधुनिक युग का महाकाव्य 'कृष्णायन' भी इसका प्रमाण है। दो सर्वश्रेष्ठ महाकवियों को उत्पन्न कर अवधी महाकवियों की मातृ-भाषा बनी हुई है।

आज भी अवधी का अपना व्यक्तित्व है। लखनऊ रेडियो द्वारा प्रसारित (अवधी में) पंचायतघर का कार्यक्रम, अन्य सभी प्रादेशिक बोलियों के कार्यक्रमों की अपेक्षा अधिक सजीव रहता है, यह अवधी भाषा की सामर्थ्य, अवध निवासियों की प्रतिभा और सहयोग तथा अवधी साहित्य और संस्कृति की उर्वरता और समृद्धि का ही सुपरिणाम है।

आज भी अवधी में लिखनेवाले कवियों का अभाव नहीं। वरन् कुछ तो अपनी व्यक्तिगत विशेषता रखते हैं, वंशोधर और आधुनिक 'भूषण' के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार अवधी जो परम्परा से अपने साहित्य, जनगीत, लोकवार्ता, आदि के कारण सम्मानित रही है आज भी प्रगतिवान् है। वह हमारा आह्वान करती है कि आओ और अपनी समर्थ मातृभाषा की लज्जित न करो। अवधी की सामर्थ्य और समृद्धि हमारे लिए गौरव की वस्तु है। हमें आशा है कि अवधी-प्रेमी साहित्यिक और अवधी-भाषी सज्जन अपनी मातृभाषा को पूर्ण गतिशील बनाने में तन-मन-धन से भरसक प्रयत्न करेंगे।

लोक-साहित्य में दाम्पत्य-जीवन*

हमारा लोक-साहित्य संस्कृति और सामाजिक जीवन की दृष्टि से अति समृद्ध है। इसके अन्तर्गत हमारे लोक-जीवन के विविध विश्वास, क्रिया-कलाप, धारणाएँ, भावनाएँ, अनुभूतियाँ, आशा-निराशा, सुख और दुःख की मार्मिक अभिव्यञ्जना मिलती है। लोक-साहित्य और विशेषकर लोकगीतों के भीतर जितना अधिक नारी-भावनाओं का प्रकाशन है, उतना पुरुष भावनाओं का नहीं और इस दृष्टि से कला-साहित्य और लोक-साहित्य में अन्तर है। कला-साहित्य प्रायः पुरुषों की सृष्टि होने के कारण उसके भीतर नारी जाति की वास्तविक भावनाओं का उतना सच्चा चित्र नहीं जितना लोकगीतों में, क्योंकि इन गीतों को निर्मित और मुखरित करने का श्रेय अधिकांश में नारी-जाति को ही है।

नारी-भावनाओं के भीतर प्रमुखतः मातृत्व, भगिनीत्व और दाम्पत्य के भाव हैं। मातृत्व की भावना लोक साहित्य में अत्यन्त रूढ़ है। अनेक कथा-कहानियों में इस प्रकार के प्रसंग हैं जिनमें निपूती रानी का मुख देखने पर छोटे से छोटे व्यक्ति को भी आपत्ति है और गीतों में सोहर तो मातृत्व के ही गौरवपूर्ण भाव से ओत-प्रोत हैं। मातृत्व-बिना भारतीय दृष्टि से, नारीत्व पूर्ण नहीं, अतः इस भावना का लोक-साहित्य में बड़ा आदर है। दाम्पत्य जीवन के चित्र लोक-साहित्य के भीतर मातृत्व की स्थिति के पूर्व के ही हैं। वरन् हम कह सकते हैं भाई की ओर का भाव इसी स्थिति में एक साथ भगिनीत्व का और पति की ओर पत्नीत्व का भाव है। दाम्पत्य-जीवन के चित्रों में लोक-साहित्य में नारी-जीवन से सम्बन्धित चित्र ही अधिक रोचक और महत्व के हैं।

कथा-कहानियों में दाम्पत्य-जीवन के भीतर सपत्नी या सौत का चित्रण विशेष मिलता है जिसमें इस बात का उल्लेख है कि अधिक सुन्दर, सुशील अथवा पुत्रवान् होने के कारण सौतों को डाह होती है और वे उसको अनेक प्रकार के कष्ट देती हैं, किन्तु अन्त में वास्तविकता स्पष्ट होने पर उन्हें

* आल इंडिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से।

वास्तविक दंड मिलता है। कहानियों में अधिक मधुर और प्रेमपूर्ण भावनाओं का चित्रण इस कारण नहीं हो पाया क्योंकि कहानियाँ बच्चों को सुनाने के लिए ही प्रायः गढ़ी गई हैं; किन्तु गीत जिन्हें युवक अथवा युवतियाँ अपनी समययस्काओं के साथ गाती हैं; दाम्पत्य-जीवन की मधुर सुखद, आशापूर्ण और करुण-भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

लोक-गीतों में दाम्पत्य-जीवन अपने विविध रूपों में प्रवाहित हुआ है। कहीं पति-पत्नी के मिलन की आशा, उत्कण्ठा और तन्मयता के दर्शन होते हैं तो कहीं वियोग की पीड़ा, निराशा, खीझ और उपालंभ हैं; कहीं पंसा-सारी खेलने का चित्रण है तो कहीं प्रिय के पास संदेशा भेजने का। इस प्रकार संयोग और वियोग दोनों पक्षों के मधुर और कठोर कूलों के बीच दाम्पत्य-जीवन बहता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

संयोग और वियोग दोनों के विविध रूप हैं। वियोग की अवस्था के विविध रूपों का दाम्पत्य-जीवन में अधिक प्रकाशन हुआ है, क्योंकि संयोग की तन्मयता के समय प्रकाशन की अपेक्षा बहुत कम ही रहती है। लम्बे विछोह के बाद मिलन कितना सुखदायी है और इस मिलन-अवस्था में कोई भी बात जो कि व्यवधान या बाधा डालती है वह असह्य है। एक गीत में यह भाव देखिये :—

“जो मैं जनतिउँ ये लवंगरि एतनी मेंहकबिउ ।
लवंगरि रँगतिउँ छयलवा क पाग सहरवा म गमकत ॥
अरे-अरे कारी बदरिया तुहँइ मोरि बादरि ।
बादरि ! जाइ बरसउ वहि देस जहाँ पिय छाये ॥
वाय बहइ पुरवइआ त पछुआँ भकोरइ ।
बहिनि दिहेउ कँवड़िया ओड़काइ सोवउँ सुख, नौदरि ॥
कि तुइ कुकुरा बिलरिया सहर सब सोवइ ।
कि तुइ समुर पहरुआ किवड़िया भड़कावइ ॥
ना हम कुकुर बिलरिया न समुर पहरिया ॥
धना हम आहि तोहरा नयकवा बदरिया बोलायेसि ।
आधी राति बोति गइ बतियाँ नियाई राति चितियाँ ।
बारह बरस का सनेह जोरत मुर्गा बोलइ ॥
तोरवेउँ मैं मुरगा का ठोर गटइया मरोरवेउँ ।
मुरगा काहे किहेउ भिनुसार त पियेह बतायउ ॥

काहे क ये रानी तोरबिउ ठोर गइइया मरौरबिउ ।

रानी होइगं धरमबाँ क जून भोर होत बोलेउं ॥”

इस गीत में संयोग-सुख की तन्मयता के साथ-साथ, अपने सतीत्व की रक्षा के सम्बन्ध में सतर्कता और धर्म के सम्बन्ध में व्यक्तिगत सुख या सुविधा के त्याग के भाव भी बड़ी सुन्दर रीति से व्यक्त हुए हैं। धर्म का सकेत पशु-पक्षियों तक से पाकर भारतीय दम्पति उसके पालन में अपने सुख का त्याग कर सकते हैं।

दाम्पत्य-जीवन के चित्रण में सतीत्व की रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले गीत बहुसंख्यक हैं, जिनमें अपने प्रेम की दृढ़ता अथवा त्याग और चतुराई के द्वारा स्त्री ने अपने पतिप्रेम और सतीत्व की रक्षा की है। एक गीत का भाव यह है कि बाँस की डलिया में ननद-भौजाई छोटे-छोटे गंहुँ पीस रही हैं। बाहर से देवर को आया देखकर भौजाई ने पूछा कि देवर! रोज तो तुम दोनों भाई साथ आते थे; आज अकेले कैसे आये हो? तुम्हारी जूती कैसे भीगी है और तुम्हारी तलवार में रक्त कैसे लगा है? देवर ने उत्तर दिया—हे भौजाई! आंस से मेरी जूती भीगी है और हिरनी के शिकार में मेरी तलवार भीग गई है। स्त्री सारा भेद जान गई और बोली—हे देवर! सच-सच बता क्यों नहीं देते? मैं तुम्हें छोड़कर दूसरे के पास नहीं जाऊँगी। अपने बड़े भाई को तुमने कहाँ मारा, कहाँ फेंका और कहाँ की चील उनके ऊपर मँडरा रही है? देवर ने बता दिया कि मैंने ऊँचे पर मारा और नीचे ढकेल दिया और आकाश की चील उनके ऊपर मँडरा रही है। बन में चन्दन की लकड़ी बटोर कर मैंने चिता तैयार की है। भौजाई ने कहा—हे देवर! जाओ आग ले आओ, मैं अपने हाथ से स्वामी को आग दूँगी। देवर आग लेने चला गया। इधर स्वामी की लाश के पास खड़ी होकर पत्नी विनय करने लगी—हे प्राणनाथ! जो तुम मेरे सच्चे पति और मैं पतिव्रता होऊँ तो तुम मेरे अंचल से आग लेकर उठो। आंचल से आग भभक उठी। सती नारी भस्म हो गई। देवर दोनों हाथ मलने लगा और बोला—हे भौजी जो मैं यह जानता कि तुम छल करोगी तो मैं अपना सगा भाई क्यों मारता? यहाँ पर दाम्पत्य-प्रेम की अनन्यता का असीम त्याग के साथ चित्रण किया गया है। दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध की यह पवित्र धारणा भारतीय जीवन की अपनी विशेषता है।

ऐसे भी गीत सुनने को मिलते हैं जिनमें कि पति के लम्बे प्रवास काल के उपरान्त विदेश से आने पर, यदि स्त्री मानवश सामने न हुई और चाहा कि पति स्वयं उससे आकर मिले और वह उलाहना दे तो उसकी सास या ननद

स्त्री के विरुद्ध अभियोग लगाकर उसके पातिव्रत पर संदेह उत्पन्न करा देती है, फल स्वरूप उसकी परीक्षा ली जाती है, गंगा की शपथ, सूर्य की शपथ ली जाती है। किन्तु भरी गगरी सूख गई, सूर्य छिप गया और जलती तेल की कड़ाही ठंडी हो गई। इन शपथों के अवसर पर भाई भी उपस्थित था। एक ऐसे गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

“बरि गई अगिया औ भभकी करहिया, बहिनी खड़ी किरिया बेय हो राम !
हे मोर सूरज हमार पति राखउ जो हम, होई सतवन्तो हो राम !
जब बहिनी चली हैं गंगा की किरिया, तब भरी गगरी भुराय !
जब बहिनी चली हैं सूरज की किरिया, उबे सूरज गये हैं छिपाय !
जब बहिनी गई हैं अगिनि की किरिया, खोलत तेल भा पानी जूड़ !”

इस प्रकार स्त्री को पूर्ण सती-साध्वी रूप में देखना, पति के केवल अधिकार का ही द्योतक नहीं, वरन् उस प्रेम का द्योतक है जो स्त्री के प्रति है और जो दूसरे के प्रति उसके प्रेम को सह नहीं सकता। यह स्वाभाविक है किन्तु इसके साथ निर्दयतायुक्त परीक्षा, व्यर्थ के संदेह आदि परिस्थितिवश आ गये हैं। किन्तु प्रेम की अनन्यता की भावना दाम्पत्य-जीवन का मूल है। दाम्पत्य-भाव की उपासना के अन्तर्गत कबीर की एक साखी इस भाव से ओत-प्रोत है :—

“नेणां भीतर आब तू, नैन भाँपि तोहि लेउँ ।

ना में बेखों और को, ना तोहि बेखन बेउँ ॥”

स्त्री और पुरुष, दोनों की ही यही भावना रहती है। दोनों एक दूसरे के प्रेम का एकाधिकार चाहते हैं और यह दाम्पत्य-जीवन में ही संभव हो सकता है, जहाँ प्रिय और प्रेमी रोज बदलते रहते हैं वहाँ यह अनन्य भाव नहीं मिल सकता। या हम यह भी कह सकते हैं कि इसी अनन्य प्रेम की कमी के कारण ही बदलाव की आवश्यकता रहती है। लोकगीतों में ऐसे गीत प्रायः सुनने को मिलते हैं जिनमें पारस्परिक प्रेमभाव का वर्णन है। एक इसी प्रकार के भाव का गीत है प्रकृति की पृष्ठभूमि में, प्रेम का संदेशा, स्त्री के प्रेम और संदेशवाहक भौरे का स्वागत स्त्री और पुरुष दोनों के प्रेम का द्योतक है। सुनिये :—

“कौन फूल फूलेला घरी रे पहरवा ।

कौन फूल फूले आधी रात ॥

अड़ल फूल फूले घरी रे पहरवा, चम्पा फूल फूले आधी रात ।

त भौरा लुभाई

तोकों बैबो भौरा वूध भात खोरवां

कि प्रिया आगे खबरि जनाउ ॥

उड़त उड़त भौरा गा वहि देसवा ।

कि बैठ जाय पिय जी के पाग ।

पगिया ते उतारि भौरा जंघा बंठारिन, पूंछं लागे धन कुसलात ।

तोरी घना परबेसी बेदने बेआकुल, पठेएन्हि मोहि ते सनेस ।

त फागुन आई ।”

स्त्री का प्रेम पति के प्रति है, ऐसी दशा में वह पति के अपमान और निरादर को नहीं सह सकती, चाहे वह उसके भाई या पिता द्वारा ही क्यों न हो । एक गीत में भाव है कि पिछवारें लींग की बगिया है और लींग आधी रात को फूलती है । प्यारा पति उसी में उतरा है और लवंग के फूल तोड़ रहा है । भीतर से बेटी का भाई निकला जिसके हाथ में धनुष और मुँह में पान था और कहता है कि तुम मेरे द्वार कैसे आये और लवंग के फूल कैसे तोड़ रहे हो ? यह जान कर कि भाई ने पहिचाना नहीं, बेटी जिसके हाथ में गजरा और मुँह में पान है भीतर से कहती है कि भाई अपने बहनोई को न डाँटो मैं तुम्हारे फूलों को बटोर दूँगी । गीत के बोल ये हैं :—

“भोरे पिछवारें लवांगिया के बगिया लवंगा फूल आधी रात ।

तेहितर उतरें हें दुलहा दुलखा, तोरहि लवंगवा के फूल ॥

भितरा ते निसरे हें बेटी के भैया हाथे धनुष मुख पान ।

कस तुह आये भोरे बरबजवा तोरहु लवंगवा के फूल ॥

भितरा ते बोली बेटी छुलाछनि हयवा गजरा मुख पान ।

जनि भैया डाटो आपन बहनोइया फुलवा में देहों बटोरि ।”

इससे भाई के अपरिचित होने और बहिन के अटूट प्रेम का प्रकाशन होता है । पति बहुत दिनों में आया है, एक कारण अपरिचित होने का यह हो सकता है ! किन्तु एक दूसरी यह बात भी ध्वनित होती है कि बेटी की इच्छा से वह विवाह करने आया है, बेटी उससे विवाह करना चाहती है, यह पहले किसी को नहीं मालूम । अतः सभी लोगों से बगिया और सुकुमारी बहिन की रक्षा करना भाई का काम है । उसके हाथ का धनुष इसी का द्योतक है । किन्तु बेटी उसका वरण कर चुकी है, हाथ का गजरा इसी बात को प्रकट करता है । इस प्रकार ऊपर का गीत बड़ा ही संकेत और व्यंग्य-भरा है । स्वाभाविक गहरे संकेत ही तो लोकगीतों की रमणीयता के रहस्य हैं ।

दाम्पत्य-जीवन के साथ-साथ गंभीर उत्तरदायित्व, व्यावहारिकता, और त्याग तीनों बातों की आवश्यकता रहती है अन्यथा प्रेम केवल प्रदर्शन है। इसमें उच्छृंखलता और चाञ्चल्य का उतना स्थान नहीं जितना गहरी हार्दिकता का जिससे कि एक का भाव दूसरा बिना कहे समझ ले। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी गंभीर दाम्पत्य-प्रेम की ओर संकेत करते हुए ही कवितावली में कहा है :—

“तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानिकें बैठि विलम्ब लौं कंटक काढ़े ।

* जानकीनाह को नेह लख्यो पुलक्यो तनु वारि विलोचन बाढ़े ॥”

प्रिया के श्रम को समझ कर राम देर तक कांटे निकालते रहते हैं जिससे उन्हें सुस्ताने का मौका मिल जाय और इस प्रकार प्रेम की हृदयस्थ किन्तु अप्रकट भावना को समझ कर जानकी पुलकित हो जाती हैं। यह दाम्पत्य-प्रेम का आदर्श है। एक गीत में पति, स्त्री को अकेली छोड़ कर गंगा नहाने जाना चाहता है, स्त्री इस विछोह को नहीं सक सकती, साथ ही व्यंग्य रूप से संकेत भी करती है कि धर्म या लोक का कोई भी कार्य क्यों न हो, स्त्री को छोड़कर करना उचित नहीं। साथ ही घर रहकर वास्तविक सेवा-धर्म की शिक्षा का भी उज्ज्वल भाव प्रकट किया गया है। देखिये एक बुंदेली के व्याह-गीत में यही भाव है :—

“पान काटि कै भाजी बनावौ लौंगन देउ बघारि ।

अच्छे-अच्छे जेवना बनाव मोरी कामिनि! हम जायें गंगा नहान ॥

काको तौ सोपौ अनधन सोनवा काको नौरंग बाग ।

काको सौंपउ हमें अस धनियां की तुम चले गंगा नहान ॥

बाबा का सौंपें अनधन सोनवा तौ भैया का नौरंग बाग ।

माया क सौंपें तोहि अस धनिया तौ हम चले गंगा नहाय ॥

घरही मां कुछियां खोबाव मोरे सइयां घरही मा गंगा नहाव ।

माता-पिता की धोतिया पखारौ उनहीं म गंगा तुमारि ॥”

यहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से माता-पिता की सेवा के कर्तव्य की ओर संकेत के द्वारा छोड़कर न जाने का व्यंग्य भाव भी बड़ा महत्वपूर्ण है।

दाम्पत्य-जीवन के वियोग-दशा के गीत बहुत हैं जिनमें प्रायः भाव यही है कि पति विदेश गया है और दीर्घ काल तक वापस नहीं आया। स्त्री विरह से व्याकुल है और अपने उद्गार प्रकट करती है अथवा किसी से संदेशा भेजती है। संदेशा सुनने और ले जानेवाले काग, भौरा, कोयल, तोता, पथिक,

बाह्य आदि हैं। वियोग की भावना से भरा हुआ एक 'पूर्वी' गीत सुनिये—

“हरि मोरि गेले कि देस मधुवन का,
 कि सूना भँले रे मोरा सेजा रे भवनवाँ ।
 सेजिया देखत माँ कि फाटे मोरि छतिया,
 कि कहँवा गँलेउ रे मेरे बारे कै सामिया ।
 कि कहँवा गँलेउ रे ।
 वोही मधुवन माँ कि एक रे बंभनवाँ,
 कि लिखि भेजेउ रे वहि हथवा सनेसवा ।
 कि लिखि भेजेउ रे ।
 सोवत रहिलिउँ कि कुस रे गँडरवा,
 कि आइ गँले रे मोरे सामी कै सुरतिया ।
 कि आइ गँले रे ।
 चिठिया बाँचत माँ कि फाटे मोर छतिया
 कि तजि गँले रे मोरे बारे कै संघतिया ।
 कि तजि गँले रे ।
 हमरे पिछवरवा एक चनन क पेड़वा,
 कि ओहि चढ़ि बोलै काली रे कोयलिया ।
 कि ओहि चढ़ि रे ।
 काहे कहियाँ रोवो कि काहे जियरा खोवो,
 कि अउले बाटे रे तोहरे ऊधोअस पंडितवा ।
 कि अउले बाटे रे ॥”

वियोग-दशा में संयोग की आशा दिलानेवाली कोयल कितनी धन्य है ! वियोग की दशा में दो बातें होती हैं; पूर्ववर्ती संयोग सुख का स्मरण और दुःख तथा प्रिय के आगमन पर आगामी सुख की आशा। दोनों का ही महत्व है। विषम वियोग-दुःख जिसमें मिलन की आशा न हो, संदेश का उत्तर न मिले, फिर संयोग के दिनों की कल्पना पूर्ण जीवन की साज-सज्जा और आयोजना की अभिलाषा हृदय को थोड़ी देर के लिए आनंद और उल्लास से तृप्त भर सके, घातक होता है; वह कष्टना है वियोग नहीं। अभी कहे गये पूर्वी में पूर्ववर्ती जीवन के स्मरण का चित्रण है, एक और गीत देखिये जिसमें प्रिय आ जाय तो स्त्री क्या करेगी, इस भाव का चित्रण है। सावन आया है उसी की पृष्ठभूमि में यह सब है, देखिये—

“सावन घन गरजै ।

कीधर की घटा ओनई, कीधर बरसै गंभीर ।
हमरा ललन, परदेसिया, भोजत हुइहैं कौने देस ।

सावन घन गरजै ।

खस के बैंगला छवउतिउँ, चौमुख रखतिउँ दुवार ।
हरि लँकै चढ़तिउँ अटरिया, भोंकवन अवति बयार ।

सावन घन गरजै ।

अतलस लेहेंगा पहिरतिउँ, चुनरी बरनि न जाय ।
भूमकि कँ चढ़तिउँ अटरिया, चौमुख दियना बराय ।

सावन घन गरजै ।”

ऐसे सात्विक अभिलाषा-पूर्ण दाम्पत्य-जीवन के गीतों को सुनकर मुख से सहसा यही निकलता है कि ईश्वर करे यह अभिलाषा शीघ्र ही पूर्ण हो । दाम्पत्य-जीवन और पति-पत्नी के साहचर्यपूर्ण जीवन का उल्लास कितना मार्मिक है ।

जैसा पहले संकेत किया जा चुका है हमारे लोक-साहित्य में दाम्पत्य-जीवन एकांगी और स्वार्थपूर्ण नहीं है, वरन् कर्तव्य और धर्मपूर्ण है । जीवन की धारा को दाम्पत्य प्रेम के सम्बन्ध-द्वारा धर्माचार की नाव पर बैठकर कर्णधार पति के द्वारा पार करने की उदात्त, शुभ्र और भोली अभिलाषा नीचे के गीत में प्रकट हुई है—

“धीरे बहो नदिया धीरे बहो । मोरा पिय उतरइ रे पार ।

काहे की तोरी नैया रे, काहे की पतवार ,

कहाँ तोरा नदिया खेवैया रे के धन उतरहि पार ।

घरमें कै मोरि नदिया रे, सत्त कै लगी पतवार ।

सैया मोरी नैया खेवैया रे, हम धन उतरबा पार ।

धीरे बहो नदिया धीरे बहो ।”

इस प्रकार दाम्पत्य-जीवन को स्निग्ध, शान्त, प्रेमपूर्ण और सफल बनाने के लिए संसार की नदी को धीरे धीरे अक्षुब्ध होने की विनती है । दाम्पत्य जीवन का प्रेम, त्याग और आदर्श, भारतीय जीवन की विशेषता है और भारतीय संस्कृति को रक्षा करनेवाले नैसर्गिक निर्भर की धारा के समान प्रवहमान लोकगीतों में इस दाम्पत्य जीवन का विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है, इसमें संदेह नहीं ।

साहित्यिक अभिरुचि

आजकल जब हम साहित्यिक अभिरुचि पर विचार करन बैठते हैं तो सहज ही एक प्रश्न सामने उठ खड़ा होना है कि साहित्य का आजकल के समाज में क्या मूल्य है ? उसकी आवश्यकता हमारे जीवन में क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम अनेक लेखों की ओर, जो साहित्य की महत्ता पर लिखे गये हैं, संकेत कर सकते हैं, साथ ही इतिहास के ऐसे युगों को बता सकते हैं जिनका महत्त्व उम्र युग के साहित्य पर ही आधारित है । साहित्य-रचना की भी कमी हमारे युग में नहीं है, फिर भी साहित्य का कोई विशेष प्रभाव हमारे समाज के जनसमुदाय पर दिखाई नहीं पड़ता । साहित्य के लिए एक प्रकार की ललक जन-जन में नहीं जगती । बहुत दिनों तक उससे अछूते रहने पर भी उसके लिए मनुष्य आतुर नहीं होता । इसका क्या कारण है ? कुछ लोग इसका कारण, आधुनिक कालीन विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और विशेष रूप से आर्थिक परिस्थितियों के भीतर ढूँढ़ेंगे और किसी सीमा तक ये परिस्थितियाँ कारण रूप हैं भी; परन्तु जब हम पिछले युगों में साधारण जनों की दीन-हीन दशा के बीच भी साहित्य के प्रति एक ललक पाते हैं, तब हमें यही कहना पड़ता है कि इसका यथार्थ कारण साहित्यिक अभिरुचि का अभाव है । युगों से जीती-जागती हमारी साहित्यिक अभिरुचि आजकल कुंठित हो गई है ।

यहाँ पर साहित्य से मेरा तात्पर्य स्थायी साहित्य से है जिसकी उपयोगिता के विषय में भर्तृहरि ने कहा है:—साहित्यसंगीतकलाविहीनः । साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः । इस प्रकार के साहित्य के प्रति अभिरुचि का व्यापक अभाव सा होने के कारण, समाज का संवेदनात्मक स्तर धीरे-धीरे गिरता जाता है, उसकी मानसिक वृत्तियाँ पूर्ण रीति से पनप नहीं पातीं और उसका शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन अस्वस्थ और अल्प होता जा रहा है ।

कहने के लिए आजकल समाचारपत्रों के पढ़ने का चाव बहुत अधिक बढ़

रहा है, पर उसकी मूल प्रेरणा जिज्ञासा की तृप्ति मात्र होती है। ज्ञान-भंडार बढ़ाने का भी उद्देश्य न होकर, जिज्ञासा को बुझाना-मात्र ही इसका ध्येय रह गया है। जानकारी बढ़ाकर सामुहिक रूप से कार्य करने की क्षमता भी बहुत कम देखने को मिलती है। उसका भी कारण हमारे भीतर समवेदना-समानुभूति का अभाव है, जिसके रहते हमारे भीतर सामुहिक रूप से कार्य-प्रेरणा जाग्रत नहीं होती। समवेदना को विकसित करनेवाला हमारा 'स्थायी साहित्य' होता है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्मानपूर्वक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए साहित्य-सेवन अवश्य है। इसके द्वारा हमारे भीतर, एक समान सोचने-समझने की शक्ति उत्पन्न होती है, एक ही अनुभूति का संचार होता है और हमारा सामाजिक जीवन एक सूत्र में बँधकर, अधिक सस्कृत होता जाता है। अतः साहित्यिक अभिरुचि को हम जितना ही तीव्र रखते हैं, हमारा जीवन उनना ही मधुर और आनंददायी होता है।

साहित्य या काव्य हमें जीवन-यापन की कला बताता है, जीवन के भीतर का सौन्दर्य खोलकर रख देता है। युगों के सदेश को प्रेय रूप में उपस्थित करके बिना प्रयास बता देता है कि भटकने की आवश्यकता नहीं, जीवन का मधुर मार्ग यह है। किन्तु हम यह सब भूल सकते हैं जब कि हमारी साहित्यिक अभिरुचि कुंठित हो जाती है। हम जानते हैं कि जीवन के साथ खिलवाड़ करने या प्रयोग करने भर को ही समय हमारे एक जीवन में नहीं है। अतः हम आग की उष्णता और विष की मारणशीलता आग में हाथ डालकर या विषपान करके नहीं सीखेंगे, वरन् परम्परा से आये ज्ञान और अनुभूति को ग्रहण करके सुखद और दुःखद के विवेकी बनेंगे। क्या, हम यह साहित्यिक अभिरुचि के विकास के बिना कर सकते हैं।

साहित्य-सेवन हमारी अनुभूति का परिष्कार करता है। यही कारण है कि परिष्कृत-अनुभूतिवाले व्यक्ति अनजाने और कभी-कभी अनचाहे ही साहित्यिक बन जाते हैं। कबीर और निर्गुण सन्तों के अन्तर्गत साहित्यिक बनने की कोई आकांक्षा न थी; पर वे अपनी परिष्कृत अनुभूति के कारण अनचाहे कवि बन बैठे। फिर धनधान्य से समृद्ध होकर और दैनिक चिन्ताओं से मुक्त होकर ही साहित्य का सेवन और सृजन किया जाता है, इसमें भी सत्यता नहीं। बड़े-बड़े निर्धनी अकिंचनों ने जो साहित्यिक सृष्टि की है, वह इस बात का प्रमाण है। दैनिक चिन्ताएँ तो जीवन के साथ हैं, उनके कारण हम जीवन का आनन्द छोड़ दें, तो बात दूसरी है। साहित्य का सेवन, हमारे दैनिक श्रमशील तथा नीरस जीवन को भी सरस और सानन्द कर सकता है।

हम आज शिक्षा की व्यापकता का दम भरते हैं; पर इसके पूर्व साधारण लोगों के भीतर जो साहित्यिक अभिरुचि थी, वह आजकल हमें ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। आधुनिक सभ्यता से अछूते तथा बड़े नगरों से दूर, गाँवों में अब भी पुरानी साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न लोग मिल सकते हैं, यदि उनके गाँवों में एक भी साहित्यिक, कवि या साहित्य-सेवी निवास करता है; पर इतने बड़े साहित्य-भंडार के बीच, नगर के लोगों में उस कोटि की साहित्यिक अभिरुचि देखने को नहीं मिलती। यत्र कथन देखने में कुछ उलटा सा जान पड़ता है, पर यदि यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाय, तो हम इसके भीतर सत्य पावेंगे।

अब हम इसके दूसरे पक्ष पर विचार करें। हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तो क्या साहित्यिक अभिरुचि, मानव जीवन के लिए कृत्रिम और अस्वाभाविक है? और साहित्यिक और कवि-समाज अपनी रचनाओं-द्वारा, कृत्रिम वायुमंडल में ही मानव-समाज को रख रहा है? यदि ऐसा है तो सचमुच साहित्य के दिन इने-गिने हैं। पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि तथ्य इसके विपरीत है। साहित्य के अन्तर्गत, बहुत सी अस्वाभाविकताएँ आईं, सहज-जीवन को कृत्रिम बनाने का प्रयत्न हुआ, पर यह साहित्यविशेष की प्रवृत्ति थी। साहित्यिकों या कवियों के विशेष सम्प्रदाय या वर्ग ने उन्हें यह रूप प्रदान किया, अन्यथा काव्य का स्वाभाविक और सहज रूप, कवि और काव्य-सेवी दोनों के लिए ही एक सहजव्यापार है। काव्य का प्रादुर्भाव “मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीसमाः” के गायक के सहज, स्वाभाविक और समवेदनापूर्ण उद्गार के रूप में हुआ है। साहित्य जहाँ विद्वानों प्रतिभा-सम्पन्नों, साधकों, अभ्यासशीलों की सम्पत्ति बना, वहीं उसका दूसरा रूप जो लोक-गीतों, जन साहित्य, आदि के रूप में मिलता है, वह स्वाभाविक उद्गार के रूप में ही है। अतः साहित्य, रचयिता के दृष्टिकोण से एक स्वाभाविक क्रिया है, कृत्रिम नहीं। इन स्वाभाविक उद्गारों के द्वारा जन सामान्य के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, करुणा-दया, उत्साह-भय, क्रोध-धृष्टा, विलास-त्याग आदि के सहज भाव अभिव्यक्त होते हैं। ऐसी दशा में जब तक मानव इन भावनाओं से संयुक्त है, तब तक इस प्रकार के उद्गारों में सभी को आनन्द मिलेगा।

साहित्य-सेवन भी मानव जाति के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना साहित्य-सृजन। साहित्य या काव्य की रचना एक स्वाभाविक क्रिया है, यह एक और बात से सिद्ध है। संसार के सभी साहित्यकार शास्त्र-पारंगत,

शिक्षित और विद्वान् पुरुष ही नहीं हुए, वरन् अशिक्षित, अनभिज्ञ लोगों के अपनी तीब्रानुभूति के सहज-उद्गार भी काव्य का रूप धारण कर चुके हैं। लोक-गीतों में एक से एक सुन्दर भाव वाले गीत हैं ; कुछ तो ऐसे हैं जिनके समान पूर्ण प्रभावोत्पादक, कोई भी अकेला पद आज तक मुझे प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों में नहीं मिला। ये गीत सहज-रीति से अंकुरित हुए हैं। भरनों के कलकल और पक्षियों के मनोहारी कलरव के समान ही मानव-कण्ठों से फूट निकले हुए ये कल-गान, गीतों, काव्य और साहित्य की स्वाभाविकता को प्रमाणित करते हैं। हम तूनि का से चित्रपटों पर विभिन्न रंग भरकर विचित्र चित्र बनाते हैं, पर विचित्र, किन्तु सहज रंगों को लेकर नित्य, गुलाब, चम्पा, कचनार, बंधुक, शेफाली आदि फूल भी खिलते हैं जो इन दो प्रकार के रंगों का सम्बन्ध है वही कृत्रिम और सहज काव्य का है। किसी की रोचकता और महत्व कम नहीं ; वरन् दोनों मानव-जीवन के दो रूपों को स्पष्ट करते हैं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि काव्य की रचना और काव्य का सेवन मानव समाज के जीवन के लिए आवश्यक और स्वाभाविक क्रिया है।

हाँ, हम एक बात मान सकते हैं कि साहित्य का बहुत कुछ अंश, विज्ञान, दर्शन, आदि शास्त्रों ने ले लिया है। इससे साहित्य का शुद्ध क्षेत्र सीमित रह गया है, साहित्यकार यदि तथ्य कहता है, तो वह विज्ञान की वस्तु है ; शाश्वत् सत्य खोजता है तो यह दर्शन की वस्तु है ; जीवन का उपयोगी मार्ग बताता है, तो शास्त्र की वस्तु है। यदि यह नहीं करता, तो उसका उपयोग क्या ? उत्तर यही हो सकता है, मनोरंजन। किन्हीं कोनों से हमें यह चेतावनी भी मिलती है कि उपदेश देना, कवि का काम नहीं ; तथ्य-निरूपण, कवि का काम नहीं ; सत्य की खोज कवि का कर्तव्य नहीं तो कवि का करणीय है क्या ? सहज उत्तर-आता है, भावोद्बोधन और उक्ति चमत्कार द्वारा मनोरंजन। इन चेतावनी देनेवाले और उसकी प्रतिध्वनि के रूप में सहज-प्राप्य उत्तर के शब्दों ने साहित्य का क्षेत्र संकुचित कर दिया है और साहित्यकार को भूल-भुलैयाँ में डाल दिया है। विभिन्न सीमाओं की ललकारों ने साहित्यकार को अन्य क्षेत्रों से खदेड़ कर, शुद्ध-साहित्य कहे जाने-वाले क्षेत्र में डाल रखा है। बस इसी से साहित्य के सामने इतनी समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं।

पर यथार्थ में यह भ्रान्त धारणा है। विज्ञान, दर्शन और शास्त्रों के विस्तार ने साहित्य के सामने और भी विस्तृत, व्यापक और नवीन क्षेत्र खोल दिये हैं। साहित्य के लिए प्रतिबन्ध नहीं, किसी भी क्षेत्र में जा सकता

है ; पर उसकी रचना अन्ततोगत्वा साहित्य होनी चाहिए, दर्शन, विज्ञान या शास्त्र नहीं ।

जीवन की विविधता के समान साहित्य विराट् है । उसकी सूक्ष्मता के समान साहित्य जटिल है और उसकी सुघरता के समान सुन्दर है, पर उसकी कुरूपता के समान कुरूप नहीं । अतः साहित्य के प्रत्येक रूप पर विचार करने के साथ सुरुचि का सम्बन्ध आवश्यक है । सुरुचि के बिना साहित्य, साहित्य नहीं । साहित्य सदा ही सुन्दर और रमणीय है । अतः साहित्य का सुरुचि से अनिवार्य सम्बन्ध है । साहित्य का सुरुचि से सम्बन्ध होने के कारण ही, साहित्य सदा ही विकासशील है । यह हो सकता है किसी युग-विशेष का साहित्य, दूसरे युग के लिए उतना उपयोगी और रमणीय अथवा प्रगतिशील न रह जावे, पर अपने युग का साहित्य उस युग की सुरुचि को ही लेकर चलता है, उसका अन्तिम लक्ष्य सुरुचि-सम्पादन ही है । युग के अनुसार वर्णन की मर्यादा और मान्यताएँ बदला करती हैं, इसलिये कभी-कभी हम पिछले युगों के साहित्य में अश्लीलता भी पाते हैं । अश्लीलता जो एक निषिद्ध वर्णन को अपने भीतर लिए रहती है, वह तो निश्चय ही कुरुचिपूर्ण है और किसी भी युग में समादृत नहीं हो सकती, पर इसके अतिरिक्त शिष्टता और सभ्यता की परिधि में भी किसी युग में कुछ ऐसी बातें आ जाती हैं, जो दूसरे युग की मर्यादा के विपरीत हो सकती हैं । उदाहरण के लिए स्त्री के अनेक अंगों का वर्णन, संस्कृत और हिन्दी के काव्यों में नखशिख के अन्तर्गत मिलता है, जो आजकल मर्यादा-पूर्ण नहीं कहा जा सकता । अतः जनता की अभिरुचि के ऊपर युग के अनुकूल व्यवहृत साहित्यिक सुरुचि, बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है ।

अब हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि हम जन-मन के भीतर साहित्यिक अभिरुचि कैसे जगावें ?

साहित्यिक अभिरुचि को जगाने का सबसे पहला उत्तरदायित्व कवि अथवा साहित्यकार पर है । साहित्यकार ऐसा साहित्य रचे जो जनता के भीतर की सुरुचि को उकसाकर, साहित्य के प्रति विद्यमान उदासीनता को दूर कर सके और साहित्य-सेवन की बान डाल सके । साहित्य के प्रति हमारी एक ललक उत्पन्न हो जावे । यह तभी सम्भव है जब—

(१) साहित्यकार की जीवन और जगत के प्रति एक सुन्दर, ऊँची और स्वस्थ धारणा बनी हो ।

(२) उसमें जीवन और जगत का गहरा और यथातथ्य अनुभव हो ।

(३) उसमें सत्य को सुन्दर रूप में देखने की प्रतिभा और उसके प्रकट करने की क्षमता हो ।

(४) उसके भाव सुलभे हुए, पूर्ण और रमणीय हों और

(५) भाषा समर्थ, प्रांजल, स्पष्ट, शुद्ध और प्रयोगबद्ध हो ।

इन सब बातों को लेकर चलनेवाला साहित्यकार, सफल होगा और अपने साहित्य के प्रति लोगों को बरबस खींचकर न केवल साहित्यिक अभिरुचि को बढ़ायेगा, वरन् वह संस्कृति, सभ्यता और मानवता का विकास करने में भी समर्थ हो सकेगा ।

साहित्यिक अभिरुचि बढ़ाने का दूसरा उत्तरदायित्व आलोचक पर है । साहित्यकार या कवि पूर्ण रीति से सतर्क और सचेत होते हुए भी, सदा ही वांछनीयता पर विचार नहीं कर सकता । अतः समालोचक का कर्तव्य है कि साहित्यकार-द्वारा निर्मित साहित्य को निष्पक्ष रीति से कसौटी पर कसकर, खरे-खोटे का स्पष्ट विवेचन करे । जब किसी साहित्य में खरे समालोचक होते हैं, तब प्रायः अच्छे लेखक पनपते हैं । समालोचक का कार्य बड़ा कठिन है । वह न्यायाधीश है । उसे यथार्थ समालोचना करनी है । कवि का बड़प्पन और प्रसिद्धि उस पर बेजा प्रभाव नहीं डाल सकती और किसी कवि की अप्रसिद्धि भी उसकी कवित्व-प्रतिभा को मन्द नहीं कर सकती । जो रचना जैसी है, उसको ठीक वैसी ही बताना आलोचक का कार्य है, मित्रता या गुटबन्दी का व्यवहार निभानेवाले समालोचक साहित्य पर कुठाराघात करते हैं ।

कवि और समालोचक दोनों के ठीक कार्य करने पर भी, व्यापक प्रभाव तब तक नहीं पड़ पाता जब तक कि पत्रकार सहायक न हों । कविता या अन्य साहित्यिक रचना का पहला स्वागत पत्र ही करते हैं और पत्रकार ही पहला आलोचक भी है । साहित्य का सत्प्रचार और सत्समालोचना पत्रकार की सहायता से ही हो सकती है । पत्रकार को विवेकी, उत्साही, उदात्त, मर्मज्ञ और विद्याविद् होना चाहिए, तभी वह साहित्यकार की रचना भी परख सकता है और समालोचना का भी आदर कर सकता है । आजकल दुर्भाग्य से सुयोग्य पत्रकार इने-गिने हैं, इसी कारण साहित्यिक अभिरुचि इतने निम्नांश पर झुकी हुई है । पत्रकार की योग्यता, लेखक और समालोचक के पहचानने में है । यह सूझ उसका बड़ा आवश्यक गुण है ।

पत्रकार के समान ही हमारे प्रकाशकों को भी गुणी और गुणग्राहक होना चाहिए । सत्कवियों और साहित्य-निर्माताओं को प्रोत्साहन देना उन्हीं

का कार्य है। उन्हें याद रखना चाहिए कि प्रकाशक होना केवल जीविको-पार्जन का व्यापार ही नहीं, बरन् बड़ी ही उच्च और पवित्र देश, समाज और साहित्य-सेवा भी है, जिसे न करने पर इन सब की दुर्दशा के वही उत्तरदायी होंगे। यह ऐसी सेवा है कि जिसमें परार्थ में स्वार्थ-सिद्धि भी निहित है।

सबसे अन्तिम, पर अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हमारी सरकार का है। सरकार का कर्तव्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना और उसके प्रचार, विस्तार और विकास का प्रबन्ध करना है। अब अपने स्वतंत्र देश में सभी का पहला कर्तव्य यह है कि शासक सत्यनिष्ठ, सद्बृत्त, न्यायी और देश, समाज एवं जनता के उन्मायक हों; तथा जनता और देश भी ऐसे शासकों के अनुकूल, न्यायप्रिय, संस्कृत, समृद्ध और शिष्ट हो। शासक-मण्डल का जन-शिक्षा का कार्य अब आन्दोलन और गुटबन्दी से नहीं हो सकता। उसके लिए उसका सुगम मार्ग है, सत्साहित्य को प्रोत्साहित कर, उसका समुचित विकास एवं प्रचार कर जनता में साहित्यिक अभिरुचि उत्पन्न करना। उत्तम साहित्य के सेवन से जनता में अपने आप विवेक, कर्तव्य-पालन और सत्य-न्याय की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। साहित्य से बढ़कर शीघ्र और स्थायी प्रचार करने वाला दूसरी शक्ति नहीं। अतः हमारी सरकार का बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व साहित्यिक अभिरुचि के बढ़ाने में है। कवि, उनका प्रोत्साहन पाकर सच्चे, मनोरम और उपयोगी साहित्य का सृजन कर सकेंगे। समालोचक अपनी निष्पक्ष समालोचना तभी कर सकते हैं जब उसकी जनता और सरकार में कदर हो सके। और पत्रकार भी अपनी सद्बृत्ति का प्रयोग अधिकारियों के संकेत अथवा सद्बृत्ति के बिना नहीं कर सकते हैं। अतः इस साहित्यिक अभिरुचि के हेतु सरकार का भी बड़ा उत्तरदायित्व है, जिसे वह जितनी शीघ्र समझें, उतनी ही शीघ्र जन-कल्याण और उच्च साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ होगी।

आज हम साहित्यिक अभिरुचि के विकास की बात इसलिए कर रहे हैं कि स्वतंत्र होकर अब हमें अपने साहित्य को विश्व-साहित्य के समकक्ष रखना है; उसकी उच्चता और विशालता को निभाना है। यह संयोग की ही बात है कि हमारा प्राचीन साहित्य उच्च और महान् है, उसकी समता विश्व के इने गिने साहित्य ही कर सकते हैं, पर हम अपने पूर्वजों के बलबूते पर आज की लड़ाई तो नहीं जीत सकते। आज गौरव तो हमें अपने हाथों अर्जित करना है, अन्यथा हम महान् पूर्वजों की निकृष्ट सन्तान कहायेंगे।

अपनी संस्कृति और आदर्शों की महानता हम साहित्य द्वारा ही प्रकट

कर सकते हैं। हम प्राचीन काल में महान् थे इसे सिद्ध करने का हमें आज अवसर मिला है। इसे हम अपने कार्यों और विशेष रूप से साहित्य-द्वारा सिद्ध करेंगे। साहित्य का सम्पर्क अधिक दूर तक जाता है, कार्यों और व्यक्तित्व का सम्पर्क उतना स्वच्छन्द और व्यापक नहीं है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समीपवर्ती देश भी हमारे साहित्य को पढ़ सकते हैं और उसी के द्वारा हमारी जाति, संस्कृति और देश के आदर्शों को जान सकते हैं और यदि वे यथार्थ में ऊँचे और सार्वभौम हैं, तो हमारे पथ के पथी भी हो सकते हैं।

साहित्यकार को इतना बड़ा दायित्व संभालना है अतः आवश्यक है कि सभी उसकी सहायता करें। अकेले एक साहित्यकार ऊँचा हो सकता है, अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा से; पर यदि हमें युग के सभी कवियों और लेखकों को उच्च और महान् बनाना है, तो हमारे भीतर साहित्यिक अभिरुचि का पूरा स्पन्दन होना चाहिए। हमारे भीतर साहित्य के लिए ललक हो, उसकी बारीकी हम समझ सकें, उसके गुणों को ग्रहण कर सकें और उसके दोषों का परिहार कर सकें। जब ये गुण हमारे देश के जन-समूह में आ जायेंगे, तभी समझिये कि साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत हुई है और हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि तभी हमारे साहित्यकारों की कृतियाँ विश्व भर में समादर और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेंगी।

आज का कवि और कविता का भविष्य *

भविष्य के विषय में कुछ कहना भविष्यवक्ता, ऋषियों और दार्शनिकों का काम है। किन्तु अपने समय की स्थिति और प्रगति को देख कर प्रत्येक विचारशील एवं उदार चिंतन वाले मानव के हृदय में भविष्य-संबन्धी कुछ आशा-दुराशाएँ जाग्रत होती रहती हैं। न यही बात सदा ही सच है कि सब को अपने बीते दिन वर्तमान से अधिक गौरवमय लगते हैं और न यह ही कि अतीत नितान्त ही अनुन्नत और वर्तमान समुन्नत जान पड़ता है। यह निकटतम अतीत के साथ तुलना की स्थिति के संबंध में कहा जा रहा है। परन्तु कुछ अंशों तक यह बात सत्य अवश्य है कि प्रस्तुत स्थिति से अप्रस्तुत स्थिति अधिक गहरे रंग की समझ पड़ती है और प्रायः हमारी कल्पना अच्छाई और बुराई, जिसका भी अनुपात अधिक ध्यानाकर्षक हुआ, उसी के अतीत में कम और भविष्य में अधिक हो जाने की संभावना के चित्र अथवा आशंकाएँ सामने रखती हैं। यदि वर्तमान समय में बुराई का पलड़ा भारी है, तो सोचने-विचारने वाले लोग कहेंगे कि हमारे बचपन में बुराई बहुत कम थी और भविष्य में तो बुराई का ही साम्राज्य होगा और यदि भलाई के लक्षण समाज में अधिक हुए तो आशावादी लोग उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करेंगे। इस तथ्य का प्रमाण सामान्यतया लोगों से पूछ कर और बहुसंख्यक मत के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है।

इन स्थितियों में हम इनके उत्तरदायी लोगों को समझ कर जब सामूहिक सामाजिक जागृति और चेतना के साथ कार्यशील होते हैं, तब प्रायः हमारी स्थिति में सुधार हो जाता है, किन्तु जब ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि हम सदा ही अपने से दूसरे को परिस्थिति का उत्तरदायी समझते हैं, तब बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है। एक वर्ग या समुदाय समझता

* यह लेख भारतवर्ष की विशेष और विश्व की सामान्य परिस्थिति को ध्यान में रख कर लिखा गया है—लेखक।

और प्रगट करता है कि दूसरा इस दूषित परिस्थिति का कारण रूप है और दूसरा पहले को ऐसा ही समझता है। ऐसी स्थिति कि दोषी अपने दोष को मान कर अपना सुधार कर ले और समस्त समाज सुधर जाय, आदर्श परिस्थिति है, किन्तु वह परिस्थिति भी अच्छी है कि जब हमारा समाज वास्तविक दोषी वर्ग को पहिचान लेता है और उसके बहिष्कृत या अपदस्य करने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब वह ऐसे प्रचार के बीच किकर्तव्य-विमूढ़ रहता है जो दूसरे को दोषी सिद्ध करने में कुशल और सचेष्ट है तब कुछ भी करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज के किसी वर्ग को शांति नहीं मिल सकती और यह समय काव्य, कला और संस्कृति के अभ्युत्थान या विकास के लिए अतीव घातक स्थिति होती है। चाहे बहुत से लोग इनके विकास के लिए प्रयत्नशील क्यों न हों, किन्तु जनता के भीतर इन वस्तुओं के प्रति इतनी उपेक्षा का भाव रहता है कि इनका भविष्य अंधकारमय ही दीखता है।

आज कल कविता की यही स्थिति है।

हमारे सामने इस समय प्रश्न ये है कि कविता की हमारे जीवन में क्या आवश्यकता है, भविष्य में उसका क्या उपयोग होगा और उसके निर्माण में उसका क्या हाथ है? सामान्यतः जब हम देखते हैं, तो उसका अर्थ यही निकलता है कि 'कोई नहीं', 'कुछ नहीं', जो कविता हमारे बाच है वह हमारे जीवन को कोई भी प्रेरणा और प्रगति नहीं दे रही। हमारा मनोरंजन भी अतीव तन्मयता के साथ नहीं कर रही। यदि तन्मयता के साथ मनोरंजन होता है, तब भी जीवन का नव निर्माण होता है, उसे नवीन रूप, शक्ति और दृष्टि प्राप्त होती है। इसमें सदेह नहीं कि आज कल कविता की पुस्तकें बराबर निकलती हैं। उनकी कुछ बिक्री भी होती है, पर जितनी गति, जितना स्पन्दन, जितना आघात और जितना आनंद काव्य के अन्य रूप कहानी, उन्म्यास, नाटक आदि दे रहे हैं उतना कविता नहीं। इस तथ्य को यह कह कर भी टाला नहीं जा सकता कि आज कल कविता को समझने वाले ही नहीं हैं; लोग सरल और अनायास ग्राह्य वस्तुओं की ओर अधिक झुकते हैं और आयास साध्य वस्तुओं की ओर नहीं। क्योंकि यदि जनसाधारण नहीं तो अन्य कुछ विद्वान् और काव्य-प्रेमी सज्जन तो हैं ही जो सत्कविता की सराहना कर सकते हैं। अतः कविता की हीनता का उत्तरदायित्व गुणग्राहकों पर ही पूर्णरूपेण नहीं है, गुण पर ही है। और यही हमारा ध्यान आज के कवि की प्रतिभा कार्य और परिस्थिति पर जाता है।

यह बात सत्य है कि परिस्थिति मनुष्य को बनाती-बिगाड़ती है किन्तु यह साधारण जन पर लागू होनेवाली उक्ति है। पुरानी उक्ति है कि कवि बनाये नहीं बनते, वे उत्पन्न होते हैं। उन्हें अच्छी-बुरी स्थितियाँ बना-बिगाड़ नहीं सकती; वरन्, उनमें स्वयं इतना तेज और प्रतिभा होती है कि वे परिस्थितियों को ही बदल सकते हैं। कालिदास, भवभूति, माघ, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि इनके प्रमाण हैं। जो वास्तव में कवि-प्रतिभा लेकर जन्मा है और जो उस प्रतिभा को कुंठित नहीं करता है ; वरन्, सदा ही उसे तीव्र और सतेज करते रहने का प्रयत्न करता है ; जिसकी कल्पना में नवीन तथ्यों, रूपों और परिस्थितियों को हृदयंगम करने की शक्ति है और जो गोस्वामी तुलसी के समकक्ष यह सिद्धान्त बना लेता है कि उसके कविकर्म में बाधा डालनेवाली जो भी वस्तु है वह त्याज्य है ; वे ही 'कवि', संज्ञा से विभूषित किये जाने चाहिये। अन्य नहीं।*

अतः कवि को अपना जीवनपथ निश्चित करते समय अपने हृदय को टटोल कर, मनकी दुर्बलता को धोकर, दृढ़ता के साथ संकल्प करना चाहिए। जो ऐसा न कर सके उसे कविता का ढोंग न करना चाहिए। आजकल ऐसे ही दृढ़ संकल्प वाले, स्वच्छ कल्पना और अदम्य प्रतिभावाले कवियों की आवश्यकता है और उनके अभाव में ही कविता की हीनता देखने को मिल रही है।

आज हमारे कवियों में वह उच्चता, निर्मलता, अदम्यता और संकल्प देखने को नहीं मिल रहा है। इसीलिए कवि और कविता की अमरता में लोगों का विश्वास हट सा रहा है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि वर्षा के उर्वर और सरस अवसर पर अपने अंकुर फोड़ देनेवाले सभी द्रुम नहीं होते; द्रुम वे हैं जो शरद, शिशिर, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म में भी लहलहाते रह

* तुलसी ने जैसा सिद्धान्त 'राम' के प्रति प्रेम के संबन्ध में बनाया था वह नीचे के पद में व्यक्त है :—

जाके प्रिय न राम बँदेही।

तजिये ताहि कोटि वरी सम यद्यपि परम सनेही ॥

तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।

जासों होय सनेह रामपद सोई हितू हमारो ॥

विनय पत्रिका।

सकें। अमर कवि वे ही हैं जो किसी विशेष समय, आवेश में आकर एकाध मधुर रागिनी नहीं छेड़ जाते, वरन् अपने जीवन भर ऐसे मधुर गान गाया करते हैं जो युग को सजग और सचेत करते तथा युग-युग में प्राण फूँकते रहते हैं। ऐसे कवियों की हमें आज आवश्यकता है। परन्तु, आज के अधिकांश कवि ऐसे ही हैं जो अपनी किशोरावस्था के आवेश में कुछ उद्गार उड़ेलकर कवि की संज्ञा पा लेते हैं और शाश्वत कवि-यश के लोलुप रहते हैं। उनका अपना कोई मौलिक जीवन-दर्शन नहीं; कोई शाश्वत स्वानुभूति नहीं; व्यापक दृष्टि और निर्मल कल्पना नहीं। आशा, निराशा, वेदना, आनंद के अंकुरों को हृदयक्षेत्र के भीतर साधना की खाद और स्वाध्याय एवं संवेदना का अभिसिंचन नहीं मिला। अतः उनका कवित्व-बीज युग-युग तक प्रतिष्ठित रहनेवाले अक्षयवट को कहाँ उत्पन्न कर सकता है जिसके आश्रय का आनंद सभी पा सकें। यदि कवि को अपने और कविता—दोनों के भविष्य के संबंध में कुछ भी मोह है, तो उसे इसी प्रकार की साधना करनी चाहिए।

किन्तु, इस संबंध में नितान्त रूप से यह सोचना कि कविता कवि की ही वस्तु है अन्य लोगों से उसका कोई संबंध नहीं—भी भ्रमपूर्ण है। कविता का उपयोग केवल कवि के लिए ही नहीं, वरन् सबके लिए है। ठीक वैसे ही जैसे अन्न उपजानेवाला कृषक है, पर उसको खानेवाले सभी हैं। अतः जिस प्रकार प्रत्येक अन्नभोजी व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि अन्न की उपज में सहायता और उपजानेवाले को सुविधा दे उसी प्रकार मन और आत्मा को विकसित करनेवाले भोजन रूप में कविता को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक का कर्तव्य कवि की सहायता करना है।

कवि की सहायता उसकी यथार्थ प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा तथा आर्थिक निश्चितता के द्वारा हो सकती है और कविता का भविष्य उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि के जाग्रत होने से ही उज्ज्वल हो सकता है। आज हमें मनोरंजन के अन्य साधनों से कुछ मानसिक उल्लास प्राप्त हो जाता है जिससे हम कविता के प्रति उपेक्षा का भाव सा रखने लगे हैं। परन्तु, जो कार्य कविता कर सकती है, वह कला के अन्य रूप नहीं कर सकते। कविता केवल मनोरंजन के अर्थ नहीं, वरन् जीवन के सत्य को हमारे संस्कारों में उतारने के अर्थ होती है। जिन सत्य सिद्धान्तों को दार्शनिक एवं समाजशास्त्री हमारे जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध करते हैं, कवि उन्हें अपनाने और ग्रहण करने का मधुर आग्रह करता है—ऐसा आग्रह जिसे हम ठुकरा नहीं सकते; ऐसा मधुर जिसे हम भुला नहीं सकते। अतः कवि की प्रत्येक युग में आवश्यक-

कता है और विशेष रूप से उसका महत्व उन युगों में है जिसमें कि जीवन के सिद्धान्त बदलते हैं। जब हमारे पूर्ववर्ती नियमों और परम्पराओं के मूल्यों में परिवर्तन होता है, तब जनता को सँभालनेवाला कवि ही होता है। वही पुराने संस्कारों के ऊपर नवीन संस्कारों के रंग चढ़ा सकता है; वही अपनी कल्पना के सहारे आँखों के सामने ऐसे नूतन दृश्य प्रस्तुत कर सकता है जो पुरातन सभी दृश्यों से अधिक आकर्षक हों और वही जन-जन के हृदय में नवीन आदर्शों के प्रति ललक तथा नवीन कर्तव्यों के प्रति जागरूकता भर सकता है।

इन सब की आज हमें कितनी आवश्यकता है। अतः हमें यह न सोचना चाहिए कि आज का युग विज्ञान और व्यापार का है इसलिए कविता संसार से निष्कासित हो जावेगी। जब तक हमारी बौद्धिक एकांगिता को सामंजस्य प्रदान करने के लिए कविता-सेवन से प्राप्त विशाल-हृदयता, संवेदनशीलता, सामाजिकता एवं मानवता न प्राप्त होगी, तब तक आज के अति व्यस्त व्यापार-विज्ञान-प्रधान युग में मानव को तन और मन दोनों ही की स्वस्थता एवं शांति प्राप्त नहीं हो सकता इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि कविता का ह्रास मानव जीवन के सहज आनंद का ह्रास है, सामाजिक जीवन के समवेत उल्लास का विनाश है और मानवता की हत्या है, क्योंकि जिस समवेदना एवं संवेदनशीलता की जागृति से मानवता स्वस्थ होकर विकसित होती है, वह कविता के द्वारा ही संभव है। कविता के भविष्य पर आशंका मानव-जीवन के भविष्य पर आशंका है। अतः हमें उसके भविष्य को सुधारने के लिए वर्तमान के क्षेत्र को तैयार करना चाहिए। आज का कवि कविता के वर्तमान को महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं कर पा रहा है, इसमें कवि की प्रतिभाहीनता और हमारी उपेक्षा उत्तरदायी है। फिर भी तथ्य यह है कि आज उच्चकोटि का काव्य तो नहीं, बल्कि उसके अनुकूल परिस्थिति और क्षेत्र तैयार हो रहे हैं जिनमें आगे कवित्व के बीज अंकुरित हो सकेंगे।

सामाजिक साम्य और आध्यात्मिक चेतना

आज कल संसार का प्रत्येक देश सामाजिक समानता की दुहाई दे रहा है। अपने प्रत्येक कार्य में बड़े और छोटे देश इसी बात का दम भरते हैं, कि वे जनतंत्रवाद, समाजवाद अथवा साम्यवाद के नियमों और सिद्धान्तों का पालन और प्रचार कर रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति, एक मानव-समुदाय दूसरे मानव-समुदाय के प्रति जो व्यवहार करता है, चाहे उसमें उसका अपना व्यक्तिगत स्वार्थ ही क्यों न छिपा हो, परन्तु उसे विश्व-शान्ति एवं विश्व समृद्धि के लिए हितकर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि यदि सभी राष्ट्र, सभी मानव-संस्थाएँ, समस्त धर्म विश्व-कल्याण की भावना से युक्त हैं, तो फिर यह पारस्परिक संघर्ष एवं विद्वेष भाव किस लिए है? यदि सभी एक उद्देश्य, मानवता के हित को लेकर चलनेवाले हैं, तब फिर तीसरे युद्ध की आशंकाएँ आदि क्यों हमारे ऊपर मँडरा रही हैं और मानव-समाज का पारस्परिक प्रेम-व्यवहार क्यों घनिष्ठ नहीं हो रहा है? यह इसलिए कि इन राजनीतिक उक्तियों और प्रचार के पीछे यथार्थ हार्दिक सद्भावना नहीं है, ये कथन वाचनिक हैं, अन्तःकरण से निकले नहीं हैं। और यह सब तब तक चलता रहेगा, जब तक हम अपने इस राजनीतिक दृष्टिकोण को आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि प्रदान न कर सकेंगे।

इस कार्य में भारत को आगे बढ़ना पड़ेगा। राजतंत्र और शासन-सम्बन्धी जितने भी बाह्य देशों के विधान हैं अथवा राजनीति के आदर्श हैं, उनका धर्म, संस्कृति या अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं समझा जाता। पर भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता यही है कि उसमें जीवन का चरमलक्ष्य राजनीतिक गौरव न होकर आध्यात्मिक सन्तोष, विकास एवं सिद्धि रहा है। इसी भारतीय जीवन की विशेषता को पहचान कर ही महात्मा गांधी ने धर्म और राजनीति का समन्वय किया था। उनकी दृष्टि में राजनीति हमारे व्यापक धर्म का एक अंगमात्र है, उससे नितान्त स्वच्छन्द नहीं।

यहाँ पर धर्म अपने संकीर्ण एवं साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं बरन् मानव-धर्म के अर्थ में ही है। हमारे मानव-धर्मशास्त्र ही, स्मृतियाँ आदि ही हमारे राजनीतिक विधान रहे हैं। यह धर्म-सम्बन्धी व्यापक और उदार भावना ही इसका कारण है। भारतीय धर्म का कोई ऐसा निश्चित एवं संकीर्ण रूप नहीं जो दूसरे धर्मों को नितान्त अपने से भिन्न समझ पड़े। धर्म के दश लक्षणाः—

धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मस्य लक्षणम् ॥

विश्वव्यापी मानवधर्म के लक्षण हैं। अतः इस प्रकार का धर्म जो हमारी आध्यात्मिक सद्भावना को जाग्रत कर सके और प्रचार एवं स्वार्थ से हटाकर निःस्वार्थ एवं गुप्त रूप से मानव-सेवा करने की प्रेरणा दे सके वह यथार्थ मानव-धर्म है।

इस प्रकार का मानव-धर्म जब हमारे राजनीतिक वादों एवं विधानों के मूल में रहेगा, तभी विश्व में सामाजिक साम्य हो सकता है। इसके विरोध में विचार करनेवाले एवं केवल ऊपरी, स्थूल दृष्टि को लेकर चलनेवाले यह कह सकते हैं कि यथार्थ में आर्थिक समानता ही इसका मुख्य साधन है। किन्तु जब हम गहराई से विचार करते हैं; तब यह बात सत्य प्रतीत नहीं हो सकती। आर्थिक एवं राजनीतिक स्वत्व-सम्बन्धी समानता से यदि संघर्ष समाप्त हो सकते तो विश्व कब का सुखी हो गया होता। जो आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त एवं सुखी हों वे भी सभी जीवन में शान्ति नहीं पाते। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आर्थिक दृष्टि का कोई मूल्य नहीं, उसका मुख्य स्थान है; पर अकेले उसी का नहीं। ये सुलभाव अधूरे एवं क्षणस्थायी हैं जब तक हमारे भीतर आध्यात्मिक दृष्टि से साम्य-चेतना जाग्रत नहीं होती। एक व्यक्ति हमारे समान ही रुपया-पैसा पर अधिकार रखनेवाला है, पर इतने ही लक्षणों से हम उसे अपने समान नहीं समझने लगते। इतना होते हुए भी हम द्वेष या विकारवश उसे अपने से हीन या नीचा समझते हैं ऐसी दशा में न हममें शान्ति हो सकती है और न पारस्परिक संघर्ष का अन्त ही। अतः इस आर्थिक एवं राजनीतिक स्वत्व-समानता के साथ-साथ यह परमावश्यकीय है कि हममें आध्यात्मिक चेतना जाग्रत हो। जिससे हम मनुष्य मात्र को, वह चाहे किसी भी परिस्थिति या स्तर में क्यों न हो, समान समझें। हमारे भीतर गीता का वह पांडित्य-भाव जाग्रत हो जिसके लिए कहा गया है कि “शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः” जब तक आध्यात्मिक

चेतना के द्वारा हमारे भीतर साम्य-भावना का प्रकाश नहीं जगता तब तक अन्य कारणों से जगी हुई वाह्य झलकों से कोई विशेष लाभ एवं स्थायी कल्याण नहीं हो सकता ।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ पर विश्व के विभिन्न कोनों में और हमारे देश में भी राजनीतिक नेता गण राजनीतिक विद्वानों-द्वारा मानव-समाज को समानता के अधिकार दे रहे हैं, वहीं हम भारतीय-चेतना के प्रतिनिधि भारतीय, यथार्थ आध्यात्मिक साम्य का मार्ग सुलभ एवं प्रशस्त करें जिससे कि मनुष्यता सच्चा एवं चिरस्थायी 'साम्य' प्राप्त कर सके । इसके लिए हमें प्रयत्न करके अब तक के आध्यात्मिक चेतना के इतिहास को मथकर उसके तत्व निकालने पड़ेंगे । यदि हम अपनी आधुनिकता और शिक्षा का व्यर्थ का अहंभाव-त्याग कर दें तो इस दिशा में भारतीय ऋषि-मुनि, संत-महात्मा बहुत कुछ हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं । जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन इसी आध्यात्मिक साम्य एवं मंगलमयी ज्योति की खोज में बिताया है । उनमें हमें बहुत बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है । अतः हमारे लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि अभी तक संचरित होने वाले और अपने विशिष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाली आध्यात्मिक किरणों की विभिन्नता सूचक रंगीनी को हटाकर सब में व्याप्त, शुभ एवं उज्ज्वल प्रकाश के बिन्दु ग्रहण कर अपना मार्ग प्रकाशित करें और भारतीय अध्यात्म के इतिहास में उपनिषद्, ब्राह्मण, गीता, बौद्धधर्म, सन्त मत, भक्ति मार्ग के आधुनिक परिस्थिति के अनुकूल, तत्वों को एकत्र कर एक भारतीय मानव-धर्म का निर्माण करें जो किसी भी, धर्म, देश और काल की परिधि के बन्धन में बँधा न हो ।

मेरा इस संबन्ध में व्यक्तिगत विचार यह है कि इस गहरी साम्य-भावना को जाग्रत करने के लिए व्यक्तिगत आस्था एवं अनास्था के अतिरिक्त भी, विश्व या ब्रह्मांड के नियन्ता पारब्रह्म या ईश्वर की सत्ता पर विश्वास आवश्यक है । इसी कारण भारतीय ऋषि-मुनि, विचारकों एवं मनीषियों के अधिकांश ने सर्वभूतों में व्याप्त ईश्वर का दर्शन किया । यह उनकी व्यक्तिगत साधना और अनुभूति का परिणाम था, इस कारण चाहे हमें उनकी आवश्यकता आजकल न भी हो, किन्तु इसका सामाजिक साम्य-स्थापना में गहरा प्रभाव और महत्व है, इस दृष्टि से उसकी बड़ी आवश्यकता है । यदि हम मानव-मानव में यथार्थ साम्य-स्थापना के पक्षपाती हैं तो हमें प्रत्येक में व्याप्त उस ईश्वर के दर्शन करना चाहिए जो हमें प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व

ने प्रति श्रद्धा और आदर का भाव जगाता है । और जिससे प्रेरित होकर ही कबीर कह उठे थे :—

“घट घट में वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे ।”

अथवा जिसका दर्शन करके ही तुलसी की विनम्र-भावना फूट निकली थी ।

“सीय राममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि झुग पानी ।”

अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजनीतिक बवंडरों से दूर रह कर भी सन्तों एवं भक्तों ने घट-घट-व्यापी के दर्शन कर मनुष्य-मनुष्य ही की नहीं, वरन् समस्त जीवों एवं प्राणियों की समता का उद्घोष किया था । मुझे तो यही लगता है कि इनकी दृष्टि यथार्थ में आध्यात्मिक साम्य की दृष्टि थी और उसमें बहुत कुछ सारतत्त्व हमें ऐसा मिलता है जो आधुनिक परिस्थिति में भी उपादेय है ।

जीवन के संघर्षों के बीच ही फँसे रहकर हम उनका रहस्य भलीभाँति नहीं देख पाते । अतः इनसे तटस्थ रहकर भारतीय ऋषि-मुनियों में जीवन-यापन के जो नियम बनाये हैं उनमें आध्यात्मिकता का प्रमुख स्थान है । और उसी पक्ष को लेकर सन्त महात्माओं ने समयानुसार जिस पक्ष की कमी देखी है उसी की ओर लक्ष्य करके अपनी अमृतमयी वाणी में उपदेश दिया है । उन्होंने जीवन की साम्य-भावना, आध्यात्मिक चेतना में ही देखी है । संसार के जितने भी पदार्थ हैं, जितने भी प्राणी हैं उन सब में ईश्वर की शक्ति व्याप्त है । अतः जब हम सबमें उसकी प्रकाश किरण के दर्शन करें, तभी हम जगत के सत्य का दर्शन कर सकते हैं । मनुष्य मानों ईश्वर का साकार रूप है । उसके भीतर व्याप्त, सहज सात्विक तत्त्व का विकास करना लोक की यथार्थ शांति का बीज बोना है यह आत्म विस्तार है, यह आत्म विकास है और मनुष्यता की सबसे बड़ी सेवा है ।

मेरा विश्वास है कि जब इस आध्यात्मिक-ज्योति का प्रकाश फैलेगा, तभी विश्व को यथार्थ शान्ति प्राप्त हो सकती है । राजनीतिक एवं आर्थिक नियम, विधानादि अशंतः एवं क्षणिक रूप में ही उस साम्य की नींव डाल सकते हैं, जिसके आज हम स्वप्न देख रहे हैं । विश्व-साम्य की कल्पना और स्थापना के प्रयास के पूर्व हमें अपने देश में भी इसी आध्यात्मिक चेतना-द्वारा यथार्थ सामाजिक साम्य की पृष्ठ-भूमि बनाना है । इसके लिए सुगम उपाय यही है कि विभिन्न मतों, धर्मों एवं सम्प्रदायोंकी कल्याण करनेवाले आध्यात्मिक विकास एवं लौकिक मंगल करनेवाली व्यावहारिक बातों का संकलन

कर समस्त भारतीय जनता के लिए आवश्यक दैनिक कार्यक्रम सा प्रस्तुत करें जिससे कि आध्यात्मिक चेतना एवं यथार्थ साम्य का भाव विस्तार एवं विकास पा सकें। यह तभी सम्भव है जब देश के विभिन्न विद्वान्, विज्ञानी समाज सुधारक, धर्म-नेता, संस्कृति-मर्मज्ञ एकत्र होकर विचार विनिमय करें और आधुनिक युग के अनुकूल उपयोगी निष्कर्ष निकाल कर समस्त जनता में प्रचार करें; जिससे हम धर्म का यथार्थ रूप समझ कर, पारस्परिक भेद-भाव मिटावें और मानवता को आध्यात्मिक एवं चारित्रिक बल देकर यथार्थ शान्ति की नींव डाल सकें और मानव-मानव की समानता चिरस्थायी रूप से स्थापित कर सकें।
